श्वेताम्बर मूलसंघ एवं माथुर संघ : एक विमर्श

सामान्यतया जैन विद्या के विद्वानों एवं शोधकर्ताओं की यह स्पष्ट अवधारणा है कि मूलसंघ और माथुरसंघ का सम्बन्ध जैनधर्म की दिगम्बर परम्परा से ही है, क्योंकि जैन अभिलेखों एवं साहित्यिक स्रोतों में मूलसंघ एवं माथुरसंघ के उल्लेख सामान्यतया दिगम्बर परम्परा के साथ ही पाये जाते हैं। संयोग से लेखक को जैनविद्या संस्थान की बैठक में लखनऊ जाने का प्रसंग आया और वहाँ उसे डॉ. शैलेन्द्र कुमार रस्तोगी आदि के सहयोग से मथुरा की जैन मूर्तियों के संग्रह को देखने का अवसर मिला। वहाँ जब उसने मथुरा से प्राप्त ईसा की दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी की पद्मासन मुद्रा में लगभग ५ फीट ऊंची विशालकाय लेखयुक्त तीन जिन प्रतिमायें देखी, तो उसे एक सुखद आश्चर्य हुआ। इन तीन प्रतिमाओं पर श्वेताम्बर मूलसंघ और श्वेताम्बर माथुरसंघ के उल्लेख पाये जाते हैं जो कि अत्यन्त विरल है। इसके पूर्व तक लेखक की भी यह स्पष्ट अवधारणा थी कि श्वे. परम्परा में किसी भी काल में मूलसंघ और माथुरसंघ का अस्तित्व नहीं रहा है। अत: उसने ध्यानपूर्वक इन लेखों का अध्ययन करना प्रारंभ किया। सर्वप्रथम लखनऊ म्यूजियम के उस रिकार्ड को देखा गया जिसमें इन मूर्तियों का विवरण था। यह रिकार्ड जीर्ण-शीर्ण एवं टंकित रूप में उपलब्ध है। रिकार्ड को देखने पर ज्ञात हुआ कि उसमें जे.१४३ क्रम की पार्श्वनाथ की प्रतिमा के विवरण के साथ-साथ अभिलेख की वाचना भी रोमन अक्षरों में दी गई है। इसका देवनागरी रूपान्तरण इस प्रकार है-

संवत् १०३६ कार्तिकशुक्लाएकादश्यां
श्रीश्वेताम्बरमूलसंघेन पश्चिम चतु (श्थी),
कयं श्रीदेवनिर्मिता प्रतिमा प्रतिस्थापिता।

दूसरी जे. १४४ क्रम की प्रतिमा के नीचे जो अभिलेख है उसका वाचन इस प्रकार दिया गया है-

श्वेताम्बर...... माथुर...... देवनिम्मिता...... प्रतिस्थापिता।

तीसरी जे. १४५ क्रम की मूर्ति पर जो अभिलेख अंकित है उसकी वाचना निम्नानुसार है-

संवत् ११३४ श्रीश्वेताम्बर श्रीमाथुरसंघ
श्रीदेवतेति
विनिर्मिताप्रतिमाकृत

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन तीनों अभिलेखों में से एक अभिलेख में श्वेताम्बर मूलसंघ और दो अभिलेखों में श्वेताम्बर माथुरसंघ का उल्लेख है। वी.ए. स्मिथ ने अपनी कृति 'दि जैन स्तूप एण्ड अदर एण्टीक्यूटीज आफ मथुरा' में इनमें से दो लेखयुक्त मूर्तियों को प्रकाशित किया है। साथ ही यह भी उल्लेख किया है कि फ्यूरर के अनुसार ये दोनों मूर्तियाँ मथुरा के श्वेताम्बर संघ को समर्पित थीं।

स्व. प्रो. के.डी. बाजपेयी ने भी 'जैन श्रमण परम्परा' नामक अपने लेख में जो कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर से प्रकाशित 'अर्हत् वचन' पत्रिका के जनवरी १९९२ के अंक में प्रकाशित हुआ है, इनमें से दो अभिलखों का उल्लेख किया है। इनके अनुसार जे. १४३ क्रम की प्रतिमा के अभिलेख की वाचना इस प्रकार है-

"संवत् १०३८ कार्तिक शुक्ल एकादश्यां
श्री श्वेताम्बर (माथुर) संघेन पश्चिम...
कार्या श्री देवनिर्म्मित प्रतिमा प्रतिष्ठापिता।"

इसी प्रकार जे. १४५ क्रम की प्रतिमा के अभिलेख की उनकी वाचना निम्नानुसार है-

"संवत् ११३४ श्री श्वेताम्बर श्री माथुर संघ-
श्री देवनिर्मित प्रतिमा कारितेति।"

प्रो. बाजपेयी की जे. १४३ क्रम की प्रतिमा की वाचना फ्यूरर की वाचना से क्वचित् भिन्न है प्रथम तो उन्होंने संवत् को १०३६ के स्थान पर १०३८ पढ़ा है, दूसरे मूलसंघेन को (माथुर) संघेन के रूप में पढ़ा है। यद्यपि उपर्युक्त दोनों वाचनाओं 'श्वेताम्बर' एवं 'माथुरसंघ' के सम्बन्ध में वाचना की दृष्टि से किसी प्रकार का कोई मतभेद नहीं है। मूलसंघेन पाठ के सम्बन्ध में थोड़े गम्भीर अध्ययन की अपेक्षा है। सर्वप्रथम हम इसी सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा करेंगे।

जब मैंने जे. १४३ क्रमांक की मूर्ति के लेख को स्वयं देखा तो यह पाया कि उसमे उत्कीर्ण श्वेताम्बर शब्द बहुत ही स्पष्ट है और अन्य दो प्रतिमाओं में भी श्वेताम्बर शब्द की उपस्थिति होने से उसके वाचन में कोई भ्रान्ति की संभावना नहीं है। 'मूल' शब्द के पश्चात् का संघेन शब्द भी स्पष्ट रूप से पढ़ने में आता है किन्तु मध्य का वह शब्द जिसे फ्यूरर ने 'मूल' और प्रो. बाजपेयी ने 'माथुर' पढ़ा है, स्पष्ट नहीं है। जो अभिलेख की प्रतिलिपि मुझे प्राप्त है और जो स्मिथ के ग्रन्थ में प्रकाशित है उसमें प्रथम 'म' तो स्पष्ट है किन्तु दूसरा अक्षर स्पष्ट नहीं है, उसे 'ल' 'लु' और 'थु' इन तीनों रूपों में पढ़ा जा सकता है। उसे 'मूल' मानने में कठिनाई यह है कि 'म' के साथ 'ऊ की मात्रा' स्पष्ट नहीं है। यदि हम उसे 'माथुर' पढ़ते हैं तो 'म' में आ की मात्रा और र का अभाव पाते हैं। सामान्यतया अभिलेखों में कभी-कभी मात्राओं को उत्कीर्ण करने में असावधानियां हो जाती हैं। यही कारण रहा है कि मात्रा की सम्भावना मानकर जहां फ्यूरर के वाचन के आधार पर लखनऊ म्यूज़ियम के उपलब्ध रिकार्ड में 'मूल' माना गया है। वहीं प्रो. बाजपेयी ने 'ऊ की मात्रा' के अभाव के कारण इसे 'मूल' पढ़ने में कठिनाई का अनुभव किया और अन्य प्रतिमाओं में 'माथुर' शब्द की उपस्थिति के आधार पर अपनी वाचना में 'माथुर' शब्द को कोष्ठकान्तर्गत रखकर माथुर पाठ की संभावना को सूचित किया। यह सत्य है कि इस प्रतिमा के लगभग १०० वर्ष पश्चात् की दो प्रतिमाओं में माथुर शब्द का स्पष्ट उल्लेख होने से उनका झुकाव माथुर शब्द की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ओर हुआ है किन्तु मुझे जितनी आपत्ति 'मूल पाठ' को मानने में हैं उससे अधिक आपत्ति उनके 'माथुर' पाठ को मानने में है क्योंकि 'मूल पाठ' मानने में तो केवल 'ऊ' की मात्रा का अभाव प्रतीत होता है जबकि माथुर पाठ मानने में 'आ' की मात्रा के अभाव के साथ-साथ 'र' का भी अभाव खटकता है। इस सम्बन्ध में अधिक निश्चितता के लिए मैं डॉ. शैलेन्द्र कुमार रस्तोगी से सम्पर्क कर रहा हूँ और उनके उत्तर की प्रतीक्षा है। साथ ही स्वयं भी लखनऊ जाकर उस प्रतिमा लेख का अधिक गम्भीरता से अध्ययन करने का प्रयास करूँगा और यदि कोई स्पष्ट समाधान मिल सका तो पाठकों को सूचित करूँगा।

मुझे दु:ख के साथ सूचित करना पड़ रहा है कि आदरणीय प्रो. के.डी. बाजपेयी का स्वर्गवास हो गया है। फिर भी पाठकों को स्वयं जानकारी प्राप्त करने के लिए यह सूचित कर देना आवश्यक समझता हूँ कि यह जे. १४३ क्रम की प्रतिमा लखनऊ म्यूजियम के प्रवेश द्वार से संलग्न प्रकोष्ठ के मध्य में प्रदर्शित है। इसकी ऊंचाई लगभग ५ फीट है। जे. १४३ क्रम की प्रतिमा के अभिलेख के 'मूल' और 'माथुर' शब्द के वाचन के इस विवाद को छोड़कर तीनों प्रतिमाओं के अभिलेखों के वाचन में किसी भ्रांति की संभावना नहीं है। उन सभी प्रतिमाओं में श्वेताम्बर शब्द स्पष्ट है। माथुर शब्द भी अन्य प्रतिमाओं पर स्पष्ट ही है, फिर भी यहाँ इस सम्बन्ध में उठने वाली अन्य शंकाओं पर विचारकर लेना अनुपयुक्त नहीं होगा। यह शंका हो सकती है कि इनमें कहीं श्वेताम्बर शब्द को बाद में तो उत्कीर्ण नहीं किया गया है? किन्तु यह संभावना निम्न आधारों पर निरस्त हो जाती है:-

१. ये तीनों ही प्रतिमाएं मथुरा के उत्खनन के पश्चात् से शासनाधीन रही हैं। अत: उनके लेखों में परवर्ती काल में किसी परम्परा द्वारा परिवर्तन की संभावना स्वत: ही निरस्त हो जाती है। पुन: 'श्वेताम्बर' मूल संघ और माथुर संघ तीनों ही शब्द अभिलेखों के मध्य में होने से उनके परवर्तीकाल में उत्कीर्ण किये जाने की आशंका भी समाप्त हो जाती है।

२. प्रतिमाओं की रचनाशैली और अभिलेखों की लिपि एक ही काल की है। यदि लेख परवर्ती होते तो उनकी लिपि में स्वाभाविक रूप से अन्तर आ जाता।

३. इन प्रतिमाओं के श्वेताम्बर होने की पुष्टि इस आधार पर भी हो जाती है कि प्रतिमा क्रम जे. १४३ के नीचे पादपीठ पर दो मुनियों का अंकन है। उनके पास मोरपिच्छी के स्थान पर श्वे. परम्परा में प्रचलित ऊन से निर्मित रजोहरण प्रदर्शित है।

४. उत्खनन से यह भी सिद्ध हो चुका है कि मथुरा के स्तूप के पास ही श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं के अलग मन्दिर थे। जहाँ दिगम्बर परम्परा का मन्दिर पश्चिम की ओर था, वहीं श्वेताम्बर मन्दिर स्तूप के निकट ही था।

५. इन तीनों प्रतिमाओं के श्वे. होने का आधार यह है कि तीनों ही प्रतिमाओं में श्री देवनिर्मित शब्द का प्रयोग हुआ है। श्वेताम्बर साहित्यिक स्रोतों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसमें मथुरा के स्तूप को देवनिर्मित मानने की परम्परा थी। सातवीं शताब्दी से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक के अनेक श्वेताम्बर ग्रन्थों में इस स्तूप को देवनिर्मित कहा गया है[१]। प्रो. के.डी. बाजपेयी ने जो यह कल्पना की है कि इन मूर्तियों को श्री देवनिर्मित कहने का अभिप्राय श्री देव (जिन) के सम्मान में इन मूर्तियों का निर्मित होना है-वह भ्रांत है[२]। उन्हें देवनिर्मित स्तूप स्थल पर प्रतिष्ठित करने के कारण देवनिर्मित कहा गया है।

श्वे. साहित्यिक स्रोतों से यह भी सिद्ध होता है कि जिनभद्र, हरिभद्र, बप्पभट्टि, वीरसूरि आदि श्वेताम्बर मुनि मथुरा आये थे। हरिभद्र ने यहाँ महानिशीथ आदि ग्रन्थों के पुनर्लेखन का कार्य तथा यहाँ के स्तूप और मन्दिरों के जीर्णोद्वार के कार्य करवाये थे। ९वीं शती में बप्पभट्टिसूरि के द्वारा मथुरा के स्तूप एवं मन्दिरों के पुनर्निर्माण के उल्लेख सुस्पष्ट हैं[३]। इस आधार पर मथुरा में श्वे. संघ एवं श्वे. मन्दिर की उपस्थिति निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाती है।

अब मूल प्रश्न यह है कि क्या श्वेताम्बरों में कोई मूलसंघ और माथुर संघ था और यदि था तो वह कब, क्यों और किस परिस्थिति में अस्तित्व में आया?

मूलसंघ और श्वेताम्बर परम्परा

मथुरा के प्रतिमा क्रमांक जे. १४३ के अभिलेख के फ्यूरर के वाचन के अतिरिक्त अभी तक कोई भी ऐसा अभिलेखीय एवं साहित्यिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है जिसके आधार पर यह सिद्ध किया जा सके कि श्वेताम्बर परम्परा में कभी मूल संघ का अस्तित्व रहा है। जैसा कि हम पूर्व में सूचित कर चुके हैं कि इस अभिलेख वाचन के सम्बन्ध में भी दो मत हैं-फ्यूरर आदि कुछ विद्वानों ने उसे 'श्री श्वेताम्बर मूलसंघेन' पढ़ा है, जबकि प्रो. के.डी. बाजपेयी ने इसके 'श्री श्वेताम्बर (माथुर) संघेन' होने की सम्भावना व्यक्त की है।

सामान्यतया मूलसंघ के उल्लेख दिगम्बर परम्परा के साथ ही पाये जाते हैं। आज यह माना जाता है कि मूलसंघ का सम्बन्ध दिगम्बर परम्परा के कुन्दकुन्दान्वय से रहा है। किन्तु यदि अभिलेखीय और साहित्यिक साक्ष्यों पर विचार करते हैं तो यह पाते हैं कि मूलसंघ का कुन्दाकुन्दान्वय के साथ सर्वप्रथम उल्लेख दोड्ड कणगालु के ईस्वी सन् १०४४ के लेख में मिलता है[४]। यद्यपि इसके पूर्व भी मूलसंघ तथा कुन्दकुन्दान्वय के स्वतंत्र उल्लेख तो मिलते है, किन्तु मूलसंघ के साथ कुन्दकुन्दान्वय का कोई उल्लेख नहीं है। इससे यही फलित होता है कि लगभग ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी में कुन्दकुन्दान्वय ने मूलसंघ के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ा है और अपने को मूलसंघीय कहना प्रारम्भ किया है।

द्राविडान्वय (द्रविड संघ) जिसे इन्द्रनन्दी ने जैनाभास कहा था, भी अङ्गडि के सन् १०४० के अभिलेख में अपने को मूलसंघ से जोड़ती है।[५]

यही स्थिति यापनीय सम्प्रदाय के गणों की भी है। वे भी ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से अपने नाम के साथ मूलसंघ शब्द का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रयोग करने लगे। यापनीय पुन्नागवृक्ष मूलगण के सन् ११०८ के अभिलेख में '... श्रीमूलसंघद पो (पु) न्नाग वृक्षमूल गणद..' ऐसा उल्लेख है[६]। इसी प्रकार यापनीय संघ के काणूर गण के ई. सन् १०७४ के बन्दलिके के तथा ई. सन् १०७५ के कुप्पटू के अभिलेख में 'श्री मूलसंघान्वय क्राणूरग्गण' ऐसा उल्लेख है[७]। इस सब से भी यही फलित होता है कि इस काल में यापनीय भी अपने को मूलसंघीय कहने लगे थे।

यापनीय गणों के साथ मूलसंघ के इन उल्लेखों को देखकर डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी आदि दिगम्बर विद्वान यह कल्पना कर बैठे कि ये गण यापनीय संघ से अलग होकर मूलसंघ द्वारा आत्मसात कर लिये गये थे[८]। किन्तु उनकी यह अवधारणा समुचित नहीं है क्योंकि इन अभिलेखों के समकालीन और परवर्ती अनेक ऐसे अभिलेख हैं जिनमें इन गणों का यापनीय संघ के गण के रूप में स्पष्ट उल्लेख है। सत्य तो यह है कि जब कुन्दकुन्दान्वय ने मूलसंघ के साथ अपना सम्बन्ध जोड़कर अन्य संघों को जैनाभास और मिथ्यात्वी घोषित किया, (इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार से इस तथ्य की पुष्टि होती है) तो प्रतिक्रिया स्वरूप दूसरों ने भी अपने को मूलसंघी कहना प्रारम्भ कर दिया। ग्यारहवीं शती के उत्तरार्ध में अचेल परम्परा के यापनीय, द्राविड आदि अनेक संघ अपने साथ मूलसंघ का उल्लेख करने लगे थे जबकि इन्द्रनन्दि ने इन सभी को जैनाभास कहा था।

इसका तात्पर्य यही है कि ग्यारहवीं शताब्दी में अपने को मूलसंघी कहने की एक होड लगी हुई थी। यदि इन तथ्यों के प्रकाश में हम मथुरा के उक्त श्वेताम्बर मूलसंघ का उल्लेख करने वाले अभिलेख पर विचार करें तो यह पाते है कि उक्त अभिलेख भी अचेल परम्परा के विविध सम्प्रदायों के साथ मूलसंघ का उल्लेख होने के लगभग ६० वर्ष पूर्व का है अर्थात् उसी काल का है। अत: सम्भव है कि उस युग के विविध अचेल परम्पराओं के समान ही सचेलपरम्परा भी अपने को मूलसंघ से जोड़ती हो।

मूलसंघ प्रारम्भ में किस प्ररम्परा से सम्बद्ध था और कब दूसरी परम्पराओं ने उससे अपना सम्बन्ध जोड़ना प्रारम्भ किया-इसे समझने के लिये हमें सर्वप्रथम मूलसंघ के इतिहास को जानना होगा। सर्वप्रथम हमें दक्षिण भारत में नोणमंगल की ताम्रपट्टिकाओं पर 'मूलसंघानुष्ठिताय' एवं 'मूलसंघेनानुष्ठिताय' ऐसे उल्लेख मिलते हैं[९]। ये दोनों ताम्रपट्टिकायें क्रमश: लगभग ईस्वी सन् ३७० और ई. सन् ४२५ की मानी जाती हैं। किन्तु इनमें निर्ग्रन्थ, कूर्चक, यापनीय या श्वेतपट आदि के नामों का उल्लेख नहीं होने से प्रथम दृष्टि में यह कह पाना कठिन है कि इस मूलसंघ का सम्बन्ध उनमें से किस धारा से था। दक्षिण भारत के देवगिरि और हल्सी के अभिलेखों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि ईसा की पांचवी शती के उत्तरार्ध में दक्षिण भारत में निर्ग्रन्थ, यापनीय, कूर्चक और श्वेतपट महाश्रमण संघ का अस्तित्व था। किन्तु मूलसंघ का उल्लेख तो हमें ईसा की चतुर्थशती के उत्तरार्ध में मिल जाता है अत: अभिलेखीय आधार पर मूलसंघ का अस्तित्व यापनीय, कूर्चक आदि नामों के पूर्व का है। मुझे ऐसा लगता है कि दक्षिण में इनमें से निर्ग्रन्थ संघ प्राचीन है और यापनीय, कुर्चक, श्वेतपट आदि संघ परवर्ती हैं, फिर भी मेरी दृष्टि में निर्ग्रन्थ संघ को मूलसंघ नहीं कहा जा सकता है। दक्षिण भारत का यह निर्ग्रन्थ महाश्रमण संघ भद्रबाहु (प्रथम) की परम्परा के उन अचेल श्रमणों का संघ था जो ईसा पूर्व तीसरी शती में बिहार से उड़ीसा के रास्ते लंका और तमिल प्रदेश में पहुँचे थे। उस समय उत्तर भारत में जैन संघ इसी नाम से जाना जाता था और उसमें गण, शाखा का विभाजन नहीं हुआ था, अत: ये श्रमण भी अपने को इसी 'निर्ग्रन्थ' नाम से अभिहित करते रहे। पुन: उन्हें अपने को मूलसंघी कहने की कोई आवश्यकता भी नहीं थी क्योंकि वहां तब उनका कोई प्रतिद्वन्द्वी भी नहीं था। यह निर्ग्रन्थसंघ यापनीय, कूर्चक और श्वेतपट्ट संघ से पृथक था, यह तथ्य भी हल्सी और देवगिरि के अभिलेखों से सिद्ध है क्योंकि इनमें उसे इनसे पृथक दिखलाया गया है और तब तक इसका निर्ग्रन्थ संघ नाम सुप्रचलित था। पुन: जब लगभग १०० वर्ष के पश्चात् के अभिलेखों में भी यह निर्ग्रन्थसंघ के नाम से ही सुप्रसिद्ध है तो पूर्व में यह अपने को 'मूलसंघ' कहता होगा। यह कल्पना निराधार है।

अपने को मूलसंघ कहने की आवश्यकता उसी परम्परा को हो सकती है जिसमें कोई विभाजन हुआ हो, जो दूसरे को निर्मूल या निराधार बताना चाहती हो; यह बात पं० नाथुराम जी प्रेमी ने भी स्वीकार की है। यह विभाजन की घटना उत्तर भारत में तब घटित हुई जब लगभग ईसा की दूसरी शताब्दी के उत्तरार्ध में उत्तर भारत का निर्ग्रन्थ संघ अचेल और सचेल धारा में विभक्त हुआ। साथ ही उसकी अचेल धारा को अपने लिये एक नये नाम की आवश्यकता प्रतीत हुई। उस समय तक उत्तर भारत का निर्ग्रन्थ संघ अनेक गुणों, शाखाओं और कुलों में विभक्त था- यह तथ्य मथुरा के अनेक अभिलेखों से और कल्पसूत्र की स्थविरावली से सिद्ध है। अत: सम्भावना यही है कि उत्तर भारत की इस अचेल धारा ने अपनी पहचान के लिये 'मूलगण' नाम चुना हो क्योंकि इस धारा को बोटिक और यापनीय-ये दोनों ही नाम दूसरों के द्वारा ही दिये गये हैं, जहाँ श्वेताम्बरों अर्थात् उत्तर भारत की सचेल धारा ने उन्हें बोटिक कहा, वहीं दिगम्बरों अर्थात् दक्षिण भारत की निर्ग्रन्थ अचेल धारा ने उन्हें यापनीय कहा। डॉ गुलाब चन्द चौधरी ने जो यह कल्पना की कि दक्षिण में निर्ग्रन्थ संघ की स्थापना भद्रबाहु द्वितीय की, मुझे निराधार प्रतीत होती है[१०]। दक्षिण भारत का निर्ग्रन्थ संघ तो भद्रबाहु प्रथम की परम्परा का प्रतिनिधि है- चाहे भद्रबाहु प्रथम दक्षिण गये हों या नहीं गये हों किन्तु उनकी परम्परा ईसा पू० तीसरी शती में दक्षिण भारत में पहुँच चुकी थी, इसके अनेक प्रमाण भी हैं। भद्रबाहु प्रथम के पश्चात् लगभग द्वितीय शती में एक आर्य भद्र हुए हैं जो निर्युक्तियों के कर्ता थे और सम्भवत: ये उत्तर भारत के अचेल पक्ष के समर्थक रहे थे, उनके नाम से भद्रान्वय प्रचलित हुई जिसका उल्लेख उदयगिरि (विदिशा) में मिलता है[११]। मेरी दृष्टि में मूलगण भद्रान्वय, आर्यकुल आदि का सम्बन्ध इसी उत्तर भारत की अचेल धारा से है जो आगे चलकर यापनीय नाम से प्रसिद्ध हुई। दक्षिण में पहुँचने पर यह धारा अपने को मूलगण या मूलसंघ कहने लगी। यह आगे चलकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्री वृक्षमूल गण, पुन्नागवृक्षमूलगण, कनकोपलसम्भूतवृक्षमूलगण आदि अनेक गणों में विभक्त हुई, फिर भी सबने अपने साथ मूलगण शब्द कायम रखा। जब इन विभिन्न मूल गणों को कोई एक संयुक्त नाम देने का प्रश्न आया तो उन्हें मूलसंघ कहा गया। कई गणों द्वारा परवर्तीकाल में संघ नाम धारण करने के अनेक प्रमाण अभिलेखों में उपलब्ध हैं। पुन: यापनीय ग्रन्थों के साथ लगा हुआ 'मूल' विशेषण-जैसे मूलाचार, मूलाराधना आदि भी इसी तथ्य का सूचक है कि 'मूलसंघ' शब्द का सम्बन्ध यापनीयों से रहा है। अत: नोणमंगल की ताम्रपट्टिकाओं में उल्लेखित मूलसंघ-यापनीय परम्परा का ही पूर्व रूप है। उत्तर भारत के निर्ग्रन्थ संघ की यह धारा जब पहले दक्षिण भारत में पहुँची तो मूलसंघ के नाम से अभिहित हुई और उसके लगभग १०० वर्ष पश्चात् इसे यापनीय नाम मिला। हम यह भी देखते हैं कि उसे यापनीय नाम मिलते ही अभिलेखों से मूलसंघ नाम लुप्त हो जाता है और लगभग चार सौ पचास वर्षों तक हमें मूलसंघ का कहीं कोई भी उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है। नोणमंगल की ई० सन् ४२५ की ताम्र पट्टिकाओं के पश्चात् कोन्नूर के ई० सन् ८६० के अभिलेख में पुन: मूलसंघ का उल्लेख देशीयगण के साथ मिलता है। ज्ञातव्य है कि इस अभिलेख में मूलसंघ के साथ देशीयगण और पुस्तकगच्छ का उल्लेख है किन्तु कुन्दकुन्दान्वय का उल्लेख नहीं है। ज्ञातव्य है कि पहले यह लेख ताम्रपट्टिका पर था बाद में १२वीं शती में इसमें कुछ अंश जोड़कर पत्थर पर अंकित करवाया गया; इस जुड़े हुए अंश में ही कुन्दकुन्दान्वय का उल्लेख है। इसके दो सौ वर्ष पश्चात् से यापनीयगण और द्राविड़ आदि अन्य गण सभी अपने को मूलसंघीय कहते प्रतीत होते हैं।

इतना निश्चित है कि मूलसंघ के साथ कुन्दकुन्दान्वय सम्बन्ध भी परवर्ती काल में जुड़ा है यद्यपि कुन्दकुन्दान्वय का सर्वप्रथम अभिलेखीय उल्लेख ई० सन् ७९७ और ८०२ में मिलता है[१२], किन्तु इन दोनों लेखों में पुस्तकगच्छ और मूलसंघ का उल्लेख नहीं है। आश्चर्य है कि साहित्यिक स्त्रोतों में तो दशवीं शती के पूर्व मूलसंघ और कुन्दकुन्दान्वय का कहीं कोई उल्लेख नहीं है। वस्तुत: कुन्दकुन्द शुद्ध आचार के प्रतिपादक एवं प्रभावशाली आचार्य थे और मूलसंघ महावीर की प्राचीन मूलधारा का सूचक था, अत: परवर्तीकाल में सभी अचेल परम्पराओं ने उससे अपना सम्बन्ध जोड़ना उचित समझा। मात्र उत्तर भारत का काष्ठासंघ और उसका माथुरगच्छ ऐसा था जिसने अपने को मूलसंघ एवं कुन्दकुन्दान्वय से जोड़ने का कभी प्रयास नहीं किया। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि काष्ठासंघ मुख्यत: उत्तर भारत से सम्बद्ध था और इस क्षेत्र में १२-१३वीं शती तक कुन्दकुन्दान्वय का प्रभाव अधिक नहीं था। वस्तुत: मूलसंघ मात्र एक नाम था जिसका उपयोग ९-१०वीं शती से दक्षिण भारत की अचेल परम्परा की सभी शाखायें करने लगी थीं। शायद उत्तर भारत की सचेल परम्परा भी अपनी मौलिकता सूचित करने हेतु इस विरुद् का प्रयोग करने लगी हो।

माथुर संघ

माथुरसंघ भी मुख्यत: दिगम्बर परम्परा का ही संघ है। मथुरा से प्राप्त पूर्व में उल्लेखित तीन अभिलेखों को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी श्वे० माथुर संघ का उल्लेख नहीं मिलता है, लेकिन उपरोक्त तीनों अभिलेखों के आधार पर हम यह मानने के लिए विवश हैं कि ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में श्वे० माथुरसंघ का अस्तित्व था। यद्यपि यह बात भिन्न है कि यह माथुरसंघ श्वेताम्बर मुनियों का कोई संगठन न होकर मथुरा के श्वेताम्बर श्रावकों का एक संगठन था और यही कारण है कि श्वे० माथुर संघ के अभिलेख मथुरा से अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं हुए। यदि श्वेताम्बर माथुर संघ मुनियों का कोई संगठन होता तो इसका उल्लेख मथुरा से अन्यत्र अभिलेखों और साहित्यिक स्त्रोतों से मिलना चाहिए था। पुन: इन तीनों अभिलेखों में मुनि और आचार्य के नामों के उल्लेख का अभाव यही सूचित करता है कि यह श्रावकों का संघ था।

जहाँ तक दिगम्बर परम्परा का प्रश्न है उसमें माथुरसंघ नामक एक मुनि संघ था और उसकी उत्पत्ति विक्रम संवत् ९५३ में आचार्य रामसेन से मानी जाती है। माथुरसंघ का साहित्यिक उल्लेख इन्द्रनंदी के श्रुतावतार और देवसेन के दर्शनसार में मिलता है। इन्द्रनन्दी ने इस संघ की गणना जैनाभासों में की है और निष्पिच्छिक के रूप में इसका उल्लेख किया है। देवसेन ने भी दर्शनसार में इसे निष्पिच्छिक बताया है। यद्यपि इसकी उत्पत्ति विक्रम सं०९५३ में बताई गई है किन्तु उसका सर्वप्रथम साहित्यिक उल्लेख अमितगति के सुभाषितरत्नसंदोह में मिलता है जो कि मुंज के शासन काल में (विक्रम १०५०) में लिखा गया। सुभाषितरत्नसंदोह के अतिरिक्त वर्धमाननीति, धर्मपरीक्षा, पंचसंग्रह, तत्त्वभावना, उपासकाचार आदि भी इनकी कृतियां है। अभिलेखीय स्त्रोतों की दृष्टि से इस संघ का सर्वप्रथम उल्लेख विक्रम सं. ११६६ में अथुर्ना के अभिलेख में मिलता है। दूसरा अभिलेखीय उल्लेख १२२६ के बिजोलिया के मन्दिर का है, इसके बाद के अनेक अभिलेख इस संघ के मिलते हैं। ज्ञातव्य है कि अपनी उत्पत्ति के कुछ ही वर्ष बाद यह संघ काष्ठासंघ का एक अंग बन गया और परवर्ती उल्लेख काष्ठासंघ की एक शाखा माथुरगच्छ के रूप में मिलते हैं।

यदि हम काल की दृष्टि से विचार करें तो यह पाते हैं कि श्वे. माथुरसंघ और दिगम्बर माथुरसंघ की उत्पत्ति लगभग समकालीन है। क्योंकि श्वे० माथुरसंघ के उल्लेख भी ११-१२वीं शताब्दी में ही मिलते हैं। यद्यपि श्वेताम्बर परम्परा में खरतर, तपा, अचंल आदि महत्त्वपूर्ण गच्छों का उद्भव काल भी यही है, फिर भी इन गच्छों में माथुर संघ का स्पष्ट अभाव होने से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि माथुर संघ श्वे० जैन मुनियों का सगठन न होकर मथुरा निवासी श्वे० श्रावकों का एक संगठन था। आश्चर्य यह भी है कि इन अभिलेखों में श्वे० माथुरसंघ का उल्लेख होते हुए भी कहीं किसी मुनि या आर्या का नामोल्लेख नहीं है। इस आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि श्वे० माथुरसंघ मथुरा के श्रावकों का ही एक संगठन था। श्वेताम्बरों में आज भी नगर के नाम के साथ संघ शब्द जोड़कर उस नगर के श्रावकों को उसमें समाहित किया जाता है। अत: निष्कर्ष यही है कि श्वे० माथुरसंघ मथुरा के श्रावकों का संघ था और उसका मुनि परम्परा अथवा उनके गच्छों से कोई सम्बन्ध नहीं था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस लेख के अंत में मैं विद्वानों से अपेक्षा करूँगा कि श्वेताम्बर माथुर संघ के सम्बन्ध में यदि उन्हें कोई जानकारी हो तो मुझे अवगत करायें ताकि हम इस लेख को और अधिक प्रमाण पुरस्सर बना सकें।

संदर्भ-

१. (अ) सं० प्रो० ढाकी, प्रो० सागरमल जैन, ऐस्पेक्ट्स आव जैनालाजी, खण्ड-२, (पं० बेचरदास स्मृति ग्रन्थ) हिन्दी विभाग, जैनसाहित्य में स्तूप- प्रो० सागरमल, पृ० १३७-८।
(ब) विविधतीर्थकल्प- जिनप्रभसूरि, मथुरापुरी कल्प।

२. अर्हत् वचन, वर्ष ४, अंक १, जनवरी ९२, पृ० १०।

३. (अ) विविधतीर्थकल्प- जिनप्रभसूरि, मथुरापुरी कल्प।
(ब) प्रभावकचरित, प्रभाचन्द्र, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, पृ० सं० १३, कलकत्ता, प्रं०सं० १९४०, पृ० ८८-१११।

४. जैन शिलालेख संग्रह, भाग-२, मणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, सं० ४५, हीराबाग, बम्बई ४, प्र०सं० १९५२ लेखक्रमांक १८०।

५. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेखक्रमांक १७८।

६. वही, " " २५०।

७. वही, " " २०७।

८. वही, भाग ३, भूमिका, पृ० २६ व ३२।

९. जैन शिलालेख सं, भाग २, लेखक्रमांक ९० व ९४।

१०. जैन शिलालेख संग्रह, भाग ३, भूमिका, पृ० २३।

११. वही, भाग २, लेखक्रमांक ७९१।

१२. वही, लेखक्रमांक १२२ एवं १२३ (मन्त्रे का ताम्रपत्र)।

ऋग्वेद में अर्हत् और ऋषभवाची ऋचायें : एक अध्ययन

भारतीय संस्कृति श्रमण और ब्राह्मण संस्कृतियों का समन्वित रूप है। जहाँ श्रमण संस्कृति तप-त्याग एवं ध्यान साधना प्रधान रही है, वहाँ ब्राह्मण संस्कृति यज्ञ-याग मूलक एवं कर्मकाण्डात्मक रही है। हम श्रमण संस्कृति को आध्यात्मिक एवं निवृत्तिपरक अर्थात् संन्यासमूलक भी कह सकते हैं, जबकि ब्राह्मण संस्कृति को सामाजिक एवं प्रवृत्तिमूलक कहा जा सकता है। इन दोनों संस्कृतियों के मूल आधार तो मानव-प्रकृति में निहित वासना और विवेक अथवा भोग और योग (संयम) के तत्त्व ही हैं जिनकी स्वतन्त्र चर्चा हमने अपने ग्रन्थ 'जैन, बौद्ध एवं गीता का साधना मार्ग' की भूमिका में की है[१]। यहाँ पर इन दोनों संस्कृतियों के विकास के मूल उपादानों एवं उनके क्रम तथा वैशिष्ट्य की चर्चा में न जाकर उनके ऐतिहासिक अस्तित्व को ही अपनी विवेचना का मूल आधार बनायेंगे।

भारतीय संस्कृति के इतिहास को जानने के लिये प्राचीनतम साहित्यिक स्रोत के रूप में वेद और प्राचीनतम पुरातात्विक स्रोत के रूप में मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा के अवशेष ही हमारे आधार हैं। संयोग से इन दोनों ही आधारों या साक्ष्यों से भारतीय श्रमण धारा के अति प्राचीन काल में भी उपस्थित होने के संकेत मिलते हैं। ऋग्वेद भारतीय साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ है। यद्यपि इसकी अति प्राचीनता के अनेक दावे किये जाते हैं और मीमांसक दर्शनधारा के विद्वान तो इसे अनादि और अपौरुषेय भी मानते हैं, फिर भी इतना निश्चित है कि ईस्वी पूर्व १५०० वर्ष पहले यह अपने वर्तमान स्वरूप में अस्तित्व में आ चुका था। इस प्राचीनतम ग्रन्थ में हमें श्रमण संस्कृति के अस्तित्व के संकेत उपलब्ध होते हैं। वैदिक साहित्य में भारतीय संस्कृति की इन श्रमण और ब्राह्मण धाराओं का निर्देश क्रमशः आर्हत और बार्हत धाराओं के रूप में मिलता है। साथ ही मोहनजोदड़ो के उत्खनन् से वृषभ युक्त ध्यान मुद्रा में योगियों की सीलें इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण हैं कि ऋग्वेद के रचनाकाल के पूर्व भी भारत में श्रमण धारा का न केवल अस्तित्व था, अपितु वही एक मात्र प्रमुख धारा थी। क्योंकि मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के उत्खनन में कहीं भी यज्ञवेदी उपलब्ध नहीं हुई है, इससे यही सिद्ध होता है कि भारत में तप एवं ध्यान प्रधान आर्हत परम्परा का अस्तित्व अति प्राचीन काल से ही रहा है।

यदि हम जैन धर्म के प्राचीन नामों के सन्दर्भ में विचार करें तो यह सुस्पष्ट है कि प्राचीन काल में यह आर्हत धर्म के नाम से ही प्रसिद्ध रहा है। वास्तविकता तो यह है कि जैन धर्म का पूर्व रूप आर्हत धर्म था। ज्ञातव्य है कि जैन-शब्द महावीर के निर्वाण के लगभग १००० वर्ष पश्चात् ही कभी अस्तित्व में आया है। सातवीं शती से पूर्व हमें कहीं भी जैन शब्द का उल्लेख नहीं मिलता है, यद्यपि इसकी अपेक्षा 'जिन' व 'जिन-धम्म' के उल्लेख प्राचीन हैं। किन्तु अर्हत्, श्रमण, जिन आदि शब्द बौद्धों एवं अन्य श्रमण धाराओं में भी सामान्यरूप से प्रचलित रहे हैं। अतः जैन परम्परा की उनसे पृथकता की दृष्टि से पार्श्व के काल में यह धर्म निर्ग्रन्थधर्म के नाम से जाना जाता था। जैन आगमों से यह ज्ञात होता है कि ई.पू. पाचवीं शती में श्रमण धारा मुख्य रूप से ५ भागों में विभक्त थीं-१. निर्ग्रन्थ, २. शाक्य, ३. तापस ४. गैरूक और ५. आजीवक[२]। वस्तुतः जब श्रमण धारा विभिन्न वर्गों में विभाजित होने लगी तो जैन धारा के लिए पहले 'निर्ग्रन्थ' और बाद में 'ज्ञातपुत्रीय श्रमण' शब्द का प्रयोग होने लगा। न केवल पाली त्रिपिटक एवं जैन आगमों में अपितु अशोक (ई.पू.-३ शती) के शिलालेखों में भी जैनधर्म का उल्लेख निर्ग्रन्थ धर्म के रूप में ही मिलता है[३]।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्तुतः पार्श्वनाथ एवं महावीर के युग में प्रचलित धर्म से पूर्व सम्पूर्ण श्रमण धारा आर्हत परम्परा के रूप में ही उल्लेखित होती थी और इसमें न केवल जैन, बौद्ध, आजीवक आदि परम्पराएं सम्मिलित थीं, अपितु औपनिषदिक-ऋषि परम्परा और सांख्य-योग की दर्शनधारा एवं साधना-परम्परा भी इसी में समाहित थी। यह अलग बात है कि औपनिषदिक धारा एवं सांख्य-योग परम्परा के बृहद् हिन्दूधर्म में समाहित कर लिये जाने एवं बौद्ध तथा आजीवक परम्पराओं के क्रमशः इस देश से निष्कासित अथवा मृतपायः हो जाने पर जैन परम्परा को पुनः पूर्व मध्युग में आर्हत धर्म नाम प्राप्त हो गया। किन्तु यहाँ हम जिस आर्हत परम्परा की चर्चा कर रहे हैं, वह एक प्राचीन एवं व्यापक परम्परा है। ऋषिभाषित नामक जैन ग्रन्थ में नारद, असितदेवल, याज्ञवल्क्य, अरुण, उद्दालक, अंगिरस, पाराशर आदि अनेक औपनिषदिक ऋषियों का अर्हत् ऋषि के रूप में उल्लेख हुआ है। साथ ही सारिपुत्र, महाकाश्यप आदि बौद्ध श्रमणों एवं मंखलीगोशाल, संजय आदि अन्य श्रमण परम्परा के आचार्यों का भी अर्हत् ऋषि के रूप में उल्लेख हुआ है[४]। बौद्ध परम्परा में बुद्ध के साथ-साथ अर्हत् अवस्था को प्राप्त अन्य श्रमणों को अर्हत् कहा जाता था। बुद्ध के लिये अर्हत् विशेषण सुप्रचलित था, यथा-नमोतस्स भगवतो अरहतो सम्मासंबुद्धस्स। इस प्रकार प्राचीन काल में श्रमण धारा अपने समग्र रूप में आर्हत परम्परा के नाम से ही जानी जाती थी। वैदिक साहित्य में और विशेष रूप से ऋग्वेद में आर्हत व बार्हत धाराओं का उल्लेख भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है[५]। आर्हत धर्म वस्तुतः वहाँ निवृत्तिप्रधान सम्पूर्ण श्रमणधारा का ही वाचक हैं। आर्हत शब्द से ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आर्हत- अर्हतों के उपासक थे और अर्हत् अवस्था को प्राप्त करना ही अपनी साधना का लक्ष्य मानते थे। बौद्ध ग्रन्थों में बुद्ध के पूर्व वज्जियों के अपने अर्हतों एवं चैत्यों की उपस्थिति के निर्देश हैं[६]। आर्हतों से भिन्न वैदिक परम्परा ऋग्वैदिक काल में बार्हत नाम से जानी जाती थी।

ऋग्वेद के दशम् मण्डल के ८५ वें सूक्त की चतुर्थ ऋचा में स्पष्ट रूप से बार्हत शब्द का उल्लेख हुआ है। वह ऋचा इस प्रकार है-

आच्छद्विधानैर्गुपितो बार्हतैः सोम रक्षितः।
ग्राव्णामिच्छृण्वन् तिष्ठासि न ते अश्नान्ति पार्थिवः।।

(ऋग्वेद १०.१८५.१४)

अर्थात् हे सोम! तू गुप्त विधि विधानों से रक्षित बार्हत गणों से संरक्षित है। तू (सोमलता के) पीसने वाले पत्थरों का शब्द सुनता ही रहता है। तुझे पृथ्वी का कोई भी सामान्य जन नहीं खा सकता।

बृहिती वेद को कहते हैं[७] और इस बृहती के उपासक बार्हत कहे जाते थे। इस प्रकार वेदों में वर्णित सोमपान एवं यज्ञ-याग में निष्ठा रखने वाले और उसे ही अपनी धर्म साधना का सर्वस्व मानने वाले लोग ही बार्हत थे। इनके विपरीत ध्यान और तप साधना को प्रमुख मानने वाले व्यक्ति आर्हत नाम से जाने जाते थे। वैदिक साहित्य में हमें स्पष्ट रूप से अर्हत् को मानने वाले इन आर्हतों के उल्लेख उपलब्ध हैं। ऋग्वेद में अर्हन् और अर्हन्त शब्दों का प्रयोग नौ ऋचाओं में दस से अधिक बार हुआ है[८]। सामान्यतया वैदिक विद्वानों ने इन ऋचाओं में प्रयुक्त अर्हन् शब्द को पूजनीय के अर्थ में अग्नि, रूद्र आदि वैदिक देवताओं के विशेषण के रूप में ही व्याख्यायित किया है। यह सत्य है कि एक विशेषण के रूप में अर्हन् या अर्हत् शब्द का अर्थ पूजनीय होता है, किन्तु ऋग्वेद में अर्हन् के अतिरिक्त अर्हन्त शब्द का स्पष्ट स्वतन्त्र प्रयोग यह बताता है कि वस्तुतः वह एक संज्ञा पद भी है और अर्हन्त देव का वाची है। इस सन्दर्भ में निम्न ऋचाएँ विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं-

अर्हविषिभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपम
अर्हन्निदं दंयसे विश्वमम्बं न वा ओजीयो रुद्र-त्वदस्ति।।

(२.३३.१०)

प्रस्तुत ऋचा को रूद्र सूक्त के अन्तर्गत होने के कारण वैदिक व्याख्याकारों ने यहाँ अर्हन् शब्द को रूद्र का एक विशेषण मानकर इसका अर्थ इस प्रकार किया है-

हे रूद्र! योग्य तू बाणों और धनुष को धारण करता है। योग्य तू, पूजा के योग्य और अनेक रूपों वाले सोने को धारण करता है। योग्य तू इस सारे विस्तृत जगत् की रक्षा करता है। हे रूद्र, तुझसे अधिक तेजस्वी और कोई नहीं है।

जैन दृष्टि में इस ऋचा को निम्न प्रकार से भी व्याख्यायित किया जा सकता है-

हे अर्हन्! तू (संयम रूपी) शस्त्रों (धनुष-बाण) को धारण करता है? और सांसारिक जीवों में प्राण रूप स्वर्ण का त्याग कर देता है? निश्चय ही तुझसे अधिक बलवान और कठोर और कोई नहीं है। हे अर्हन्! तू विश्व की अर्थात् संसार के प्राणियों की मातृवत् दया करता है।

प्रस्तुत प्रसंग में अर्हन् की ब्याज रूप से स्तुति की गयी है। यहाँ शस्त्र धारण करने का तात्पर्य कर्म शत्रुओं या विषय वासनाओं को पराजित करने के लिए संयम रूपी शस्त्रों को धारण करने से है। जैन परम्परा में 'अरिहंत' शब्द की व्याख्या शत्रु का नाश करने वाला, इस रूप में की गई है। आचारांग में साधक को अपनी वासनाओं से युद्ध करने का निर्देश दिया गया है।[९] इसी प्रकार ब्याज रूप से यह कहा गया है कि जहाँ सारा संसार स्वर्ण के पीछे भागता है, वहीं, तू इसका त्याग करता है। यहाँ यजतं शब्द त्याग का वाची माना जा सकता है। अतः तुझसे अधिक कठोर व समर्थ कौन हो सकता है? प्रस्तुत प्रसंग में 'अर्हन् दयसे विश्वमम्ब' शब्द अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें अर्हन् को विश्व के सभी प्राणियों की दया करने वाला तथा मातृवत् कहा गया है, जो जैन परम्परा का मूल आधार है। इसी प्रकार पंचम मण्डल के बावनवें सूक्त की पाँचवीं ऋचा भी महत्त्वपूर्ण है-

अर्हन्तो ये सुदानवो नरो असामिशवसः।
प्र यज्ञं यज्ञियेभ्यो दिवो अर्चा मरुद्भयेः।।

(ऋग्वेद ५.५२.५)

सायण की व्याख्या के अनसार इस ऋचा का अर्थ इस प्रकार है-

जो पूज्य, दानशूर, सम्पूर्ण बल से युक्त तथा तेजस्वी द्यौतमान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नेता है, उन पूज्य वीर-मरूतों के लिए यज्ञ करो और उनकी पूजा करो।

हम प्रस्तुत ऋचा की भी जैन दृष्टि से निम्न व्याख्या कर सकते हैं-

जो दानवीर, तेजस्वी, सम्पूर्ण वीर्य से युक्त, नर श्रेष्ठ अर्हन्त हैं, वे याज्ञिकों के लिए यजन के और मरुतों के लिए अर्चना के विषय हैं।

इसी प्रकार से अर्हन् शब्द वाची अन्य ऋचाओं की भी जैन दृष्टि से व्याख्या की जा सकती है। वैदिक ऋचाओं की व्याख्याओं के साथ कठिनाई यह है कि उनकी शब्दानुसारी सरल व्याख्या सम्भव नहीं होती है, लक्षणा प्रधान व्याख्या ही करनी होती है। अत: उन्हें अनेक दृष्टियों से व्याख्यायित किया जा सकता है।

ऋग्वेद में न केवल सामान्य रूप से श्रमण परम्परा और विशेष रूप से जैन परम्परा से सम्बन्धित अर्हन्, अर्हन्त, व्रात्य, वातरशनामुनि, श्रमण आदि शब्दों का उल्लेख मिलता है, अपितु उसमें आर्हत परम्परा के उपास्य वृषभ का भी शताधिक बार उल्लेख हुआ है। मुझे ऋग्वेद में वृषभ वाची ११२ ऋचाएँ उपलब्ध हुई हैं। सम्भवत: कुछ और ऋचाएँ भी मिल सकती हैं। यद्यपि यह कहना कठिन है कि इन समस्त ऋचाओं में प्रयुक्त 'बृषभ' शब्द ऋषभदेव का ही वाची है। फिर भी कुछ ऋचाएँ तो अवश्य ही ऋषभदेव से सम्बन्धित मानी सकती हैं। डॉ. राधाकृष्णन, प्रो. जीमर, प्रो. वीरपाक्ष वाडियर आदि कुछ जैनेतर विद्वान भी इस मत के प्रतिपादक हैं कि ऋग्वेद में जैनों के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव से सम्बन्धित निर्देश उपलब्ध होते हैं[१०]। आर्हत धारा के आदि पुरुष के रूप में ऋषभ का नाम सामान्य रूप से स्वीकृत रहा है, क्योंकि हिन्दू पुराणों एवं बौद्ध ग्रन्थों से भी इसकी पुष्टि होती है। जैनों ने उन्हें अपना आदि तीर्थंकर माना है। इतना सुनिश्चित है कि ऋषभदेव भारतीय संस्कृति की निवृत्तिप्रधान धारा के प्रथम पुरुष हैं। हिन्दू परम्परा में जो अवतारों की चर्चा है, उसमें ऋषभ का क्रम ८वाँ है, किन्तु यदि मानवीय रूप में अवतार की दृष्टि से विचार करें तो लगता है कि वे ही प्रथम मानवावतार थे। यद्यपि ऋषभ की अवतार रूप में स्वीकृति हमें सर्वप्रथम पुराण साहित्य में विशेषत: भागवत पुराण में मिलती है जो कि परवर्ती ग्रन्थ है। किन्तु इतना निश्चित है कि श्रीमद्भागवत में श्रषभ का जिस रूप में प्रस्तुतिकरण है, वह उन्हें निवृत्तिप्रधान श्रमण संस्कृति का आदि पुरुष सिद्ध करता है[११]। श्रीमद्भागवत पुराण के अतिरिक्त लिंगपुराण, शिवपुरण, आग्नेयपुराण, ब्रह्मांडपुराण, विष्णुपुराण, कूर्मपुराण, वराहपुराण और स्कन्ध पुराण में भी ऋषभ का उल्लेख एक धर्म प्रवर्तक के रूप में हुआ है,[१२] यद्यपि प्रस्तुत निबन्ध में हम ऋग्वेद में उपलब्ध वृषभ वाची ऋचाओं की ही चर्चा तक अपने को सीमित करेंगे।

ऋग्वेद में 'वृषभ' शब्द का प्रयोग किन-किन सन्दर्भों में हुआ है, यह अभी भी एक गहन शोध का विषय है। जहाँ एक ओर अधिकांश वैदिक विद्वान व भाष्यकार ऋग्वेद में प्रयुक्त वृषभ (ऋषभ) शब्द का अर्थ बैल[१३], बलवान[१४], उत्तम् श्रेष्ठ[१५] वर्षा करने वाला[१६], कामनाओं की पूर्ति करने वाला[१७] आदि करते हैं, वहीं जैन विद्वान उसे अपने प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का वाची मानते हैं। जैन विद्वानों ने ऋषभदेव की चर्चा के सन्दर्भ में ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद आदि की अनेक ऋचाएँ प्रस्तुत भी की हैं और उनका जैन संस्कृति अनुसारी अर्थ करने का भी प्रयत्न किया है। प्रस्तुत निबन्ध में मैंने भी एक ऐसा ही प्रयत्न किया है। किन्तु ऐसा दावा मैं नही करता हूँ कि यही एक मात्र विकल्प है। मेरा कथ्य मात्र यह है कि उन ऋचाओं के अनेक सम्भावित अर्थों में यह भी एक अर्थ हो सकता है, इससे अधिक सुनिश्चित रूप में कुछ नहीं कहा जा सकता है। ऋग्वेद में प्रयुक्त शब्द के अर्थ के सन्दर्भ में हमें पर्याप्त सतर्कता एवं सावधानी बरतनी होगी, क्योंकि जहाँ तक वैदिक ऋचाओं का प्रश्न है उनका अर्थ करना एक कठिन कार्य है। अधिक क्या कहें, सायण जैसे भाष्यकारों ने भी ऋग्वेद के १० वें मण्डल के १०६ वें सूक्त के ग्यारह मन्त्रों की व्याख्या करने में असमर्थता प्रकट की है। मात्र इतना ही नहीं, कुछ अन्य मन्त्रों के सम्बन्ध में स्पष्ट लिखा है कि इन मन्त्रों से कुछ भी अर्थ बोध नहीं होता है। कठिनाई यह है कि सायण एवं महिधर के भाष्यों और ऋग्वेद के रचना काल में पर्याप्त अन्तर है। जो ग्रन्थ ईसा से १५०० वर्ष पूर्व कभी बना हो, उसका ईसा की १५ वीं शती में अर्थ करना कठिन कार्य है क्योंकि इसमें न केवल भाषा की कठिनाई होती है, अपितु शब्दों के रूढ़ अर्थ भी पर्याप्त रूप से बदल चुके होते हैं। वस्तुत: वैदिक ऋचाओं को उनके भौगोलिक व सामाजिक परिप्रेक्ष्य में समझे बिना उनका जो अर्थ किया जाता है, वह ऋचाओं में प्रकट मूल भावों के कितना निकट होगा, यह कहना कठिन है। स्कन्दस्वामी, सायण एवं महिधर के बाद स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वैदिक मन्त्रों की अपनी दृष्टि से व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। यदि हम सायण और दयानन्द की व्याख्याओं को देखें, तो यह स्पष्ट होता है कि सायण एवं दयानन्द की व्याख्याओं में बहुत अन्तर है। ऋग्वेद में जिन-जिन ऋचाओं में वृषभ शब्द आया है, वे सभी ऋचाएँ ऐसी हैं कि उन्हें अनेक दृष्टियों से व्याख्यायित किया जा सकता है।

मूल समस्या तो यह है कि वैदिक ऋचाओं का शब्दिक अर्थ ग्रहण करें या लाक्षणिक अर्थ। जहाँ तक वृषभ सम्बन्धी ऋचाओं के अर्थ का प्रश्न है, मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूँ कि उनका शब्दानुसारी अर्थ करने पर न तो जैन मन्तव्य की पुष्टि होती है और न आर्यसमाज के मन्तव्यों की पुष्टि होगी, न ही उनसे किसी विशिष्ट दार्शनिक चिन्तन का अवबोध होता है। यद्यपि वैदिक मन्त्रों के अर्थ के लिए सर्वप्रथम यास्क ने एक प्रयत्न किया था किन्तु उसके निरुक्त में ही यह भी स्पष्ट रूप से उल्लिखित है कि उस समय भी कोत्स आदि आचार्य ऐसे थे, जो मानते थे कि वेदों के मन्त्र निरर्थक हैं[१८]। यद्यपि हम इस मत से सहमत नहीं हो सकते। वस्तुत: वैदिक मन्त्र एक सहज स्वाभाविक मानवीय भावनाओं की अभिव्यक्ति हैं किन्तु ऐसा मानने पर वेदों के प्रति जिस आदर भाव या उनकी महत्ता की बात है वह क्षीण हो जाती है। यही कारण है कि स्वामी दयानन्द आदि ने वेदों में रहस्यात्मकता व लाक्षणिकता को प्रमुख माना और उसी आधार पर मन्त्रों की व्याख्यायें कीं। अत: सबसे प्रथम यह विचारणीय है कि क्या वेद मन्त्रों की व्याख्या उन्हें रहस्यात्मक व लाक्षणिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानकर की जाय अथवा नहीं। क्योंकि यदि हम ऋग्वेद में प्रयुक्त वृषभ शब्द को ऋषभदेव के अर्थ मे ग्रहण करना चाहते हैं, तो हमारे मत की पुष्टि रहस्यात्मक एवं लाक्षणिक व्याख्यायों द्वारा ही सम्भव है। शब्दानुसारी सामान्य अर्थ की दृष्टि से ऐसी पुष्टि सम्भव नहीं है।

सबसे पहले हम इसी प्रश्न पर विचार करें कि क्या वैदिक ऋचाओं का लाक्षणिक व रहस्यात्मक अर्थ किया जाना चाहिए। यह भी स्पष्ट है कि अनेक वैदिक ऋचाएँ व मन्त्र अपने शब्दानुसारी अर्थ में बहुत ही साधारण से लगते हैं जबकि उनका लाक्षणिक अर्थ अत्यन्त ही गम्भीर होता है। वैदिक ऋचाएँ लाक्षणिक व रहस्यात्मक अर्थ की वाचक हैं यह समझने के लिए पहले हमें औपनिषदिक साहित्य पर भी इस दृष्टि से विचार करना होगा क्योंकि अनेक उपनिषद् वेदों में समाहित हैं।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में निम्न श्लोक पाया जाता है-

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वी प्रजाः सृज्यमानां सरूपाः।
अजोह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः।।

यदि हम श्वेताश्वतरोपनिषद् के इस श्लोक का शब्दानुसारी यह अर्थ करते हैं कि एक काले, लाल व सफेद रंग की बकरी है, जो अपने समान ही संतान को जन्म देती है। एक बकरा उसका भोग कर रहा है, जबकि दूसरे ने उसका भोग करके परित्याग कर दिया है। इस अर्थ की दृष्टि से यह श्लोक एक सामान्य पशु की प्राकृतिक स्थिति का चित्रण मात्र है, लेकिन हम इसके पूर्वापर सम्बन्ध को देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि औपनिषदिक ऋषि का यह कथन केवल एक पशु का चित्रण नहीं है, अपितु एक रूपक है, जिसके लाक्षणिक अर्थ के आधार पर वह प्रकृति की त्रिगुणात्मकता के साथ उसके द्वारा सृष्ट पदार्थों के त्रिगुणात्मक स्वरूप को स्पष्ट करना चाहता है। यह तथ्य इस बात का प्रमाण है कि वेदों की ऋचाएँ एवं औपनिषदिक श्लोक मात्र सामान्य अर्थ के सूचक नहीं हैं। उनमें अनेक स्थानों पर रूपकों के माध्यम से दार्शनिक रहस्यों के उद्घाटन का प्रयत्न किया गया है। इस सन्दर्भ में हम ऋग्वेद की ही दसवें मण्डल की एक ऋचा लेते हैं-

ऋतस्य हि सदसो धीतिरद्यौत्सं गार्ष्टेयो वृषभो गोभिरानट्
उदतिष्ठत्तविषेणा रवेण महान्ति चित्सं विव्याचा रजांसि।।

(१०.१११.२)

इस ऋचा के शाब्दिक अर्थ के अनुसार इसके द्वितीय चरण का अर्थ होगा तरुण गाय से उत्पन्न वृषभ रंभाता हुआ गौओं के साथ मिलता है, किन्तु मात्र इतना अर्थ करने पर ऋचा का भाव स्पष्ट नही होता है। इसके पूर्व ऋतस्य ही सदसो धीतिरद्यौत्सं इस पूर्वचरण को भी लेना होता है। इस चरण का अर्थ भी सायण और दयानन्द ने अलग-अलग ढंग से किया है, किन्तु वे अर्थ भी लाक्षणिक ही हैं। जहाँ दयानन्द 'ऋतस्य ही सदसोधीतिरद्यौत' का अर्थ ऋत की सभा की धारणा शक्ति प्रकाशित हो रही है- ऐसा अर्थ करते है[१९], वहीं सायण भाष्य पर आधारित होकर सातवेलकर इसका अर्थ जल स्थान का अर्थात् अन्तरिक्ष का धारक यह इन्द्र प्रकाशता है, ऐसा अर्थ करते हैं[२०], किन्तु ये दोनों ही अर्थ न तो पूर्णतः शब्दानुसारी हैं और न पूर्णतः लाक्षणिक ही कहे जा सकते हैं। दयानन्द ने उसकी लाक्षणिकता को स्पष्ट करते हुए-ईश्वर का प्रकाश फैला है ऐसा भावार्थ किया है। लेकिन यहाँ हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि भारतीय चिन्तन में ईश्वर की अवधारणा एक परवर्ती विकास है। ऋत की अवधारणा प्राचीन है और उसका अर्थ सत्य या व्यवस्था है।

प्रस्तुत प्रसंग में इस ऋचा को वृषभ से सम्बन्धित मानते हैं तो इसका अर्थ इस प्रकार होगा-जिस प्रकार तरुण गाय से उत्पन्न वृषभ गौ समूह के बीच अपनी ध्वनि से सुशोभित होता है, उसी प्रकार ऋषभ के केवल ज्ञान से उत्पन्न सम्यक् वाणी से सत्य की सभा सुशोभित होती है। वह (ऋषभदेव) समवसरण में ऊपर आसीन होकर जिस वाणी का उद्घोष करते हैं, वह अपने तीव्र रव शब्द ध्वनि के द्वारा इस समस्त लोक को व्याप्त करती है। इस प्रकार उपर्युक्त ऋचा का जैन दृष्टि से जो लाक्षणिक अर्थ किया जाता है, वह अधिक समीचीन प्रतीत होता है। इसी प्रसंग में ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल के ५८ वें सूक्त की तीसरी ऋचा, जो वृषभ से सम्बन्धित है, के अर्थ पर भी विचार करें। यह ऋचा इस प्रकार है-

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश।।

(४.५८.३)

इस ऋचा का शब्दानुसारी सामान्य अर्थ इस प्रकार है-

इस वृषभ अथवा देव के चार सींग, तीन पैर, दो सिर और इसके सात हाथ हैं। यह वृषभ या बलवान देव तीन स्थानों पर बंधा हुआ शब्द करता है, यह महान देव मनुष्यों में प्रविष्ट है[२१]। इस शब्दानुसारी अर्थ के आधार पर- न तो इसमें वृषभ (बैल) का यथार्थ प्राकृतिक स्वरूप का चित्रण है- यह कहा जा सकता है और न किसी अन्य अर्थ का स्पष्ट बोध होता है। अतः स्वाभाविक रूप से इसके लाक्षणिक अर्थ की ओर जाना होता है।

दयानन्द सरस्वती इसका लाक्षणिक अर्थ इस प्रकार करते हैं-

हे मनुष्यों! जो बड़ा सेवा और आदर करने योग्य स्वप्रकाश स्वरूप और सब को सुख देने वाला मरणधर्म वाले मनुष्य आदि को सब प्रकार से व्याप्त होता है और जो सुखों को वर्षाने वाला तीन श्रद्धा, पुरुषार्थ और योगाभ्यास से बंधा हुआ विस्तृत उपदेश देता है। इस धर्म से युक्त नित्य और नैमित्तिक परमात्मा के बोध के दो उन्नति और मोक्ष रूप शिर स्थानापन्न तीन अर्थात् कर्म, उपासना और ज्ञान रूप चलने योग्य पैर और चार वेद श्रृगों के सदृश आप लोगों को जानने योग्य हैं और इस धर्म व्यवहार के पाँच ज्ञानेन्द्रिय वा पाँच कर्मेन्द्रिय अन्तःकरण और आत्मा ये सात हाथों के सदृश वर्तमान हैं, और उक्त तीन प्रकार से बधाँ हुआ व्यवहार भी जानने योग्य है[२२]। किन्तु यदि इस उपर्युक्त ऋचा का अर्थ जैन दृष्टि से करें तो तीन योगों अर्थात् मन, वचन व काय से बद्ध या युक्त ऋषभ देव ने यह उद्घोषणा की कि महादेव अर्थात् परमात्मा मृत्यों में ही निवास करता है, उसके अनन्त चतुष्टय रूप अर्थात् अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख व अनन्त वीर्य ऐसे चार श्रृङ्ग हैं और सम्यक् दर्शन, ज्ञान व चारित्र रूप तीन पाद हैं। उस परमात्मा के ज्ञान उपयोग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व दर्शन उपयोग ऐसे दो शीर्ष हैं तथा पाँच इन्द्रियां, मन व बुद्धि ऐसे सात हाथ हैं। श्रृङ्ग आत्मा के सर्वोत्तम दशा के सूचक हैं जो साधना की पूर्णता पर अनन्त चतुष्टय के रूप में प्रकट होते हैं और पाद उस साधना मार्ग के सूचक हैं जिसके माध्यम से उस सर्वोत्तम आत्म अवस्था को प्राप्त किया जा सकता है। सप्त हस्त ज्ञान प्राप्त के सात साधनों को सूचित करते हैं। ऋषभ को त्रिधाबद्ध कहने का तात्पर्य यह है कि वह मन-वचन एवं काय योगों की उपस्थिति के कारण ही संसार में है। बद्ध का अर्थ संयत या नियन्त्रित करने पर मन, वचन, व काय से संयत ऐसा अर्थ भी किया जा सकता है।

इस प्रकार से हम देखते हैं कि यहां जैन दृष्टि से किया लाक्षणिक अर्थ उतना ही समीचीन है, जितना स्वामी दयानन्द का लाक्षणिक अर्थ। इतना अवश्य सत्य है कि इस ऋचा का कोई भी शब्दानुसारी अर्थ इसके अर्थ को अभिव्यक्त नहीं कर सकता है। अत: हमें मानना होगा कि वैदिक ऋचाओं के अर्थ को समझने के लिए इनकी लाक्षणिकता को स्वीकार किये बिना अन्य कोई विकल्प नही है।

सायण आदि वेदों के भाष्यकारों ने सामान्य रूप में 'वृषभ' शब्द की व्याख्या एक विशेषण के रूप में की है और उसके प्रसंगानुसार बलवान, श्रेष्ठ, वर्षा करने वाला, कामनाओं की पूर्ति करने वाला-ऐसा अर्थ किया है। वे वृषभ को इन्द्र, अग्नि, रूद्र आदि वैदिक देवताओं का एक विशेषण मानते हैं एवं इसी रूप में उसे व्याख्यायित भी करते हैं। चाहे वृषभ का अर्थ बलवान या श्रेष्ठ करें अथवा उसे वर्षा करने वाला या कामनाओं की पूर्ति करने वाला कहें, वह एक विशेषण के रूप में ही गृहीत होता है। यह सत्य है कि अनेक प्रसंगों में वृषभ शब्द की व्याख्या एक विशेषण के रूप में की जा सकती है। स्वयं जैन एवं बौद्ध परम्पराओं में भी वृषभ शब्द का प्रयोग एक विशेषण के रूप में हुआ है। बौद्ध ग्रन्थ धम्मपद के अन्त में एक गाथा में वृषभ शब्द का प्रयोग विशेषण के रूप में हुआ है। वह गाथा निम्नानुसार है-

उसभं पवरं वीरं महेसिं विजिताविनं।
अनेजं नहातकं बुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं।।

(धम्मपद, २६.१.४०)

अत: इस सम्बन्ध में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती है कि वृषभ शब्द का प्रयोग विशेषण के रूप में नहीं हो सकता, किन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता कि वृषभ शब्द सर्वत्र विशेषण के रूप में ही प्रयुक्त होता है। 'वृषभ' शब्द का प्रयोग साहित्य के क्षेत्र में विशेषण पद व संज्ञा पद दोनों रूपों में ही पाया जाता है।

ऋग्वेद में ही अनेक ऐसे स्थल हैं जहाँ वैदिक विद्वानों ने 'वृषभ' शब्द का प्रयोग विशेषण के रूप में माना है। जैसे-

१. त्वं अग्ने वृषभ: (१/३१/५)
२. वृषभ: इन्द्रो (१/३३/१०)
३. त्वं अग्ने इन्द्रो वृषभ: (२/१/३)
४. वृषभं.... इन्द्रं (३/४७/५)

इस प्रकार के और भी अनेक सन्दर्भ उपस्थित किए जा सकते हैं, किन्तु प्रश्न यह है कि क्या 'वृषभ' शब्द को सदैव ही एक विशेषण माना जाय।

यह ठीक है कि इन्द्र वर्षा का देवता है। उसे श्रेष्ठ या बलवान माना गया है। अत: उसका विशेषण वृषभ हो सकता है किन्तु इसके विपरीत इन्द्र शब्द को भी वृषभ का विशेषण माना जा सकता है। जैन परम्परा में ऋषभ आदि तीर्थंकरों के लिए जिनेन्द्र विशेषण प्रसिद्ध ही है। अथर्ववेद (९.९.७) में इन्द्रस्य रूपं ऋषभो कहकर दोनों को पर्यायवाची बना दिया गया है। इन्द्र का अर्थ ऐश्वर्य का धारक ऐसा भी होता है। इस रूप में वह वृषभ का विशेषण भी बन सकता है। जिस प्रकार वृषभ को इन्द्र, अग्नि, रुद्र, बृहस्पति आदि का विशेषण माना गया है उसी प्रकार व्याख्या को परिवर्तित करके इन्द्र, रुद्र, अग्नि और बृहस्पति को वृषभ का विशेषण भी माना जा सकता है।

यहाँ वृषभ आप इन्द्र या जिनेन्द्र हैं-ऐसी व्याख्या भी बहुत असंगत नहीं कही जा सकती है। कुछ जैन विद्वानों की ऐसी मान्यता भी है कि वेदों में 'जात-वेदस' शब्द जो अग्नि के लिए प्रयुक्त हुआ है वह जन्म से त्रिज्ञान सम्पन्न ज्योति स्वरूप भगवान ऋषभदेव के लिए ही हैं। वे यह मानते हैं कि "रत्नधरक्त", "विश्ववेदस", "जातवेदस" आदि शब्द जो वेदों में अग्नि के विशेषण हैं वे रत्नत्रय से युक्त विश्व तत्त्वों के ज्ञाता सर्वज्ञ ऋषभ के लिए भी प्रयुक्त हो सकते हैं। इतना निश्चित है कि ये शब्द सामान्य प्राकृतिक अग्नि के विशेषण तो नहीं माने जा सकते हैं। चाहे उन्हें अग्निदेव का वाची माना जाय या ऋषभदेव का, वे किसी दैवीय शक्ति के ही विशेषण हो सकते हैं। जैन विद्वानों का यह भी कहना है कि अग्नि देव के रूप में ऋषभ की स्तुति का एक मात्र हेतु यही दृष्टिगत होता है। ऋषभदेव स्थूल व सूक्ष्म शरीर से परिनिवृत्त होकर सिद्ध, बुद्ध व मुक्त हुए उस समय उनके परम प्रशान्त को आत्मसात करने वाली अग्नि ही तत्कालीन जनमानस के लिए स्मृति का विषय रह गयी और जनता अग्नि दर्शन से ही अपने आराध्य देव का स्मरण करने लगी। (देवेन्द्रमुनी शास्त्री: ऋषभदेव एक परिशीलन, पृ.४३)

जैन विद्वानों के इस चिन्तन में कितनी सार्थकता है यह एक स्वतन्त्र चर्चा का विषय है, यहाँ में उसमें उतरना नहीं चाहता हूँ, किन्तु यह बताना चाहता हूँ कि विशेषण एवं विशेष्य के रूप में प्रयुक्त दोनों शब्दों में यदि संज्ञा रूप में प्रयुक्त होने की सामर्थ्य है तो उनमें किसे विशेषण और किसे विशेष्य माना जाय-यह व्याख्याकार की अपनी-अपनी दृष्टि पर ही आधारित होगा। साथ ही दोनों को पर्यायवाची भी माना जा सकता है।

ऋग्वेद में रुद्र की स्तुति के सन्दर्भ में भी वृषभ शब्द का प्रयोग हुआ है। स्वयं ऋग्वेद में ही एक ओर रुद्र को उग्र एवं शस्त्रों को धारण करने वाला कहा गया, वहीं दूसरी ओर उसे विश्व प्राणियों के प्रति दयावान और मातृवत् भी कहा गया है (२/३३/१)। इस ऋचा की चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं। एक ही व्यक्ति कठोर व कोमल दोनों हो सकता है। ऋषभ के सन्दर्भ में यह कहा जाता है कि ये तप की कठोर साधना करते थे। अत: वह रुद्र भी थे। वैदिक साहित्य में रुद्र, सर्व, पाशुपति, ईश, महेश्वर,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शिव, शंकर आदि पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त हुए हैं। जैन दृष्टि से इन्हें वृषभ का विशेषण भी माना गया है। अत: किसे किसका विशेषण माना जाय, यह निर्धारण सहज नहीं है। ऋग्वेद में जो रुद्र की स्तुति है उसमें ५ बार वृषभ शब्द का और ३ बार अर्हन् शब्द का उल्लेख हुआ है। मात्र इतना ही नहीं, रुद्र को अर्हन् शब्द से भी सम्बोधित किया गया है। इतना तो निश्चित है कि अर्हन् विशेषण ऋषभदेव के लिए ही अधिक समीचीन है क्योंकि यह मान्य तथ्य है कि उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म आर्हत धर्म है। अत: ऋग्वेद में रुद्र की जो स्तुति प्राप्त होती है उसमें यदि रुद्र को वृषभ माना जाय तो वह वृषभ की स्तुति के रूप में भी व्याख्यायित हो सकती है। यद्यपि मैं इसे एक सम्भावित व्याख्या से अधिक नहीं मानता हूँ। इस सम्बन्ध में पूर्ण सुनिश्चितता का दावा करना मिथ्या होगा।

ऋग्वेद में वृषभ शब्द का बृहस्पति के विशेषण के रूप में भी माना गया है। यहाँ भी यही समस्या है। हम बृहस्पति को भी वृषभ का विशेषण बना सकते हैं क्योंकि ऋषभ को परमज्ञानी माना गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वृषभ शब्द इन्द्र, अग्नि, रुद्र अथवा बृहस्पति का विशेषण माना जाय या इन शब्दों को वृषभ का विशेषण माना जाय, इस समस्या का सम्यक् समाधान इतना ही हो सकता है कि इन व्याख्याओं में दृष्टिभेद ही प्रमुख है। दोनों व्याख्याओं में किसी को भी हम पूर्णत: असंगत नहीं कह सकते। किन्तु यदि जैन दृष्टि से विचार करें तो हमें मानना होगा कि रुद्र, इन्द्र, अग्नि आदि ऋषभ के विशेषण हैं।

ऋग्वेद में हमें एक सबसे महत्त्वपूर्ण सूचना यह मिलती है कि अनेक सन्दर्भों में वृषभ का एक विशेषण मरुत्वान् आया है (वृषभों मरुत्वान् (२.३३.६))। जैन परम्परा में ऋषभ को मरुदेवी का पुत्र माना गया है, अत: उनके साथ यह विशेषण समुचित प्रतीत होता है।

ऋग्वेद में वृषभ सम्बन्धी ऋचाओं की व्याख्या के सम्बन्ध में यह भी स्पष्ट है कि अनेक प्रसंगों में उनकी लाक्षणिक व्याख्या के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं रहता है।

ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल के अट्ठावनवें सूक्त की तीसरी ऋचा में वृषभ को चार सींगों, तीन पादा या पावों, दो शीर्ष, सात हस्त एवं तीन प्रकार से बद्ध कहा गया है। यह ऋचा स्पष्ट रूप से ऋषभ को समर्पित है। इसमें ऋषभ को मृत्यों में उपस्थित या प्रविष्ठ महादेव कहा गया है। इस ऋचा की कठिनाई यह है कि इसे किसी भी स्थिति में अपने शब्दानुसारी सहज अर्थ द्वारा व्याख्यायित नहीं किया जा सकता क्योंकि न तो वृषभ के चार सींग होते हैं, न तीन पाद, न दो शिर होते हैं, न ही सात हाथ होते हैं, चाहे हम किसी भी परम्परा की दृष्टि से इस ऋचा की व्याख्या करें, लाक्षणिक रूप में ही करना होगा। ऐसी स्थिति में इस ऋचा को जहाँ दयानन्द सरस्वती आदि वैदिक परम्परा के विद्वानों ने हिन्दू परम्परानुसार व्याख्यायित करने का प्रयत्न किया, वही जैन विद्वानों ने इसे जैन दृष्टि से व्याख्यायित किया। जब सहज शब्दानुसारी अर्थ संभव नहीं है तब लाक्षणिक अर्थ के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प भी शेष नहीं रहता।

इसी प्रकार ऋग्वेद के ७वें मण्डल के पच्चावनवें सूक्त की सातवीं ऋचा (७.५५.७) में यह कहा गया है कि सहस्त्र श्रृङ्ग वाला वृषभ समुद्र से ऊपर आया। यद्यपि वैदिक विद्वान् इस ऋचा की व्याख्या में वृषभ का अर्थ सूर्य करते हैं, वे वृषभ का सूर्य अर्थ इस आधार पर लगाते हैं कि वृषभ शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है जो वर्षा का कारण होता है, वह वृषभ है। क्योंकि सूर्य वृष्टि का कारण है, अत: वृषभ का एक अर्थ सूर्य भी हो सकता है। सहस्त्र श्रृङ्ग का अर्थ भी वे सूर्य की हजारों किरणों से करते हैं, किन्तु जैन दृष्टि से इसका अर्थ यह भी किया जा सकता है कि ज्ञान रूपी सहस्त्रों किरणों से मण्डित ऋषभदेव समुद्रतट पर आये। इसी ऋचा की अगली पंक्ति का शब्दार्थ इस प्रकार है- उस की सहायता से हम मनुष्यों को सुला देते हैं, किन्तु सूर्य की सहायता से मनुष्यों को कैसे सुलाया जा सकता है यह बात सामान्य बुद्धि की समझ में नहीं आती। फिर भी सहस्त्र श्रृङ्ग की व्याख्या तो लाक्षणिक दृष्टि से ही करना होगा। वृषभ शब्द बैल का वाची भी है और ऋग्वेद में बैल के क्रियाकलापों की अग्नि, इन्द्र आदि से तुलना भी की गई है जैसे ८वें मण्डल में शिशानो वृषभो यथाग्नि: श्रृङ्ग दविध्वत, (८.६८.१३) में हम देखते हैं कि अग्नि की तुलना वृषभ से की गयी है और कहा गया है कि जैसे वृषभ अपने सीगों से प्रहार करते समय अपने सिर को हिलाता है उसी प्रकार अग्नि भी अपनी ज्वालाओं को हिलाता है।

इसी प्रकार की अन्य ऋचायें भी हैं— वृषभो न तिग्मश्रृंगोऽन्तर्यूथेषु रोरुवत- (१०.८६.१५) तीक्ष्ण सींग वाले वृषभ के समान जो अपने समूह में शब्द करता है। इसका जैन दृष्टि से लाक्षणिक अर्थ यह भी हो सकता है कि तीक्ष्ण प्रज्ञा वाले ऋषभ देव अपने समूह अर्थात् चतुर्विध संघ या परिषद में उपदेश देते हैं और हे इन्द्र! तुम भी उन पर मंथन या चिन्तन करो। ज्ञातव्य है इस ऋचा में 'न' शब्द समानता या तुलना का वाची है। इसी प्रकार 'आशु: शिसानो वृषभो न' (१०.१०३.१) में भी तुलना है।

इस प्रकार ऋग्वेद में वृषभ शब्द तुलना की दृष्टि से बैल के अर्थ में भी अनेक स्थलों में प्रयुक्त हुआ है।

उपर्युक्त समस्त चर्चाओं के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि ऋग्वेद में जिन-जिन स्थानों पर वृषभ शब्द का प्रयोग हुआ है उन सभी स्थलों की व्याख्या वृषभ को 'ऋषभ' मानकर नहीं की जा सकती है। मात्र कुछ स्थल हैं जहाँ पर ऋग्वेद में प्रयुक्त वृषभ की व्याख्या ऋषभ के सन्दर्भ में की जा सकती है। इनमें भी सम्पूर्ण ऋचा को व्याख्यायित करने के लिये लाक्षणिक अर्थ का ही ग्रहण करना होगा। अधिक से अधिक हम यह कह सकते हैं कि ऋग्वैदिक काल में वृषभ एक उपास्य या स्तुत्य ऋषि के रूप में गृहीत थे।

पुन: ऋग्वेद में वृषभ का रुद्र, इन्द्र, अग्नि आदि के साथ जो समीकरण किया गया है वह इतना अवश्य बताता है कि यह समीकरण परवर्ती काल में प्रचलित रहा। ६ठी शती से लेकर १०वीं शती के जैन साहित्य में जहाँ ऋषभ की स्तुति या उसके पर्यायवाची नामों का उल्लेख है उनमें ऋषभ की स्तुति इसी रूप में की गयी। ऋषभ के शिव, परमेश्वर, शंकर, विधाता आदि नामों की चर्चा हमें जैन परम्परा के प्रसिद्ध भक्तामर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्तोत्र में भी मिलती है[२३]।

ऋग्वेद में उपलब्ध कुछ ऋचाओं की जैन दृष्टि से ऋषभदेव के प्रसंग में व्याख्या करने का हमने प्रयत्न किया है। विद्वानों से यह अपेक्षा है कि वे इन ऋचाओं के अर्थ को देखें और निश्चित करें कि इस प्रयास की कितनी सार्थकता है। यद्यपि मैं स्वयं इस तथ्य से सहमत हूँ कि इन ऋचाओं का यही एक मात्र अर्थ है ऐसा दावा नहीं किया जा सकता। अग्रिम पंक्तियों में कुछ ऋचाओं का जैन दृष्टिपरक अर्थ प्रस्तुत है। मेरी व्यस्तताओं के कारण वृषभवाची सभी ११२ ऋचाओं का अर्थ तो नहीं कर पाया हूँ, मात्र दृष्टि-बोध के लिये कुछ ऋचाओं की व्याख्या प्रस्तुत है। इस व्याख्या के सम्बन्ध में भी मात्र इतना ही कहा जा सकता है कि इन ऋचाओं के जो विभिन्न लाक्षणिक अर्थ सम्भव हैं उनमें एक अर्थ यह भी हो सकता है। इससे अधिक मेरा कोई दावा नहीं है।

ऋषभ वाची ऋग्वैदिक ऋचाओं की जैन दृष्टि से व्याख्या

असृग्रमिन्द्र ते गिरः प्रति त्वामुदहासत।
अजोषा वृषभं पतिम।

(१.९.४)

हे इन्द्र ! (अजोषा) जिन्होंने स्त्री का त्याग कर दिया है, उन ऋषभ (पतिम्) स्वामी के प्रति आपकी जो अनेक प्रकार की वाणी (स्तुति) है, वह आपकी (भावनाओं) को उत्तमता पूर्वक अभिव्यक्त करती है। (ज्ञातव्य है कि जैन परम्परा में इन्द्र ही सर्वप्रथम जिन की स्तुति करता है- शक्रस्तव (नमोत्थुणं) का पाठ जैनों में सर्व प्रसिद्ध है)

त्वमग्ने वृषभः पुष्टिवर्धन उद्यतस्रुचे भवसि श्रवाय्यः।
य आहुतिं परि वेदा वषट्कृतिमेकायुग्ने विश अविवाससि।।
(१.३१.५)

हे ज्योतिस्वरूप वृषभ ! आप पुष्टि करने वाले हैं जो लोग होम करने के लिए तत्पर हैं उनके लिए स्वयं आकर आप सुनने योग्य हैं अर्थात् उन्हें आहूत होकर आपके विचारों को जानना चाहिए। आप का उपदेश जानने योग्य है क्योंकि उसके आधार पर उत्तम क्रियायें की जा सकती हैं। आप एकायु अर्थात् चरम शरीरी हैं और तीर्थंकरों में प्रथम या अग्र हैं और प्रजा आप में ही निवास करती है अर्थात् आप की ही आज्ञा का अनुसरण करती है।

(ज्ञातव्य है- वैदिक दृष्टि से अग्नि के लिये एकायु एवं अग्र विशेषण का प्रयोग उतना समीचीन नहीं है जितना ऋषभ तीर्थंकर के साथ है। उन्हें एकायु कहने का तात्पर्य यह है कि जिनका यही अन्तिम जीवन है। दूसरे प्रथम तीर्थंकर होने से उनके साथ अग्र विशेषण भी उपयुक्त है-

न ये दिवः पृथिव्या अन्तमापुर्न मायाभिर्धनदां पर्यभूवन।
युजं वज्रं वृषभश्चक्र इन्द्रो निर्ज्योतिषा तमसो गा अदुक्षत।।

(१.३३.१०)

हे स्वामी (ऋषभदेव) ! न तो स्वर्ग के और न पृथ्वी के वासी माया और धनादि (परिग्रह) से परिभूत होने के कारण आपकी मर्यादा (आपकी योग्यता) को प्राप्त नहीं होते हैं। हे ऋषभ ! आप समाधियुक्त (युज), अतिकठोर साधक, व्रजमय शरीर के धारक और इन्द्रों के भी चक्रवर्ती हैं- ज्ञान के द्वारा अन्धकार (अज्ञान) का नाश करके गा अर्थात् प्रजा को सुखों से पूर्ण कीजिये।

आ चर्षणिप्रा वृषभो जनानां राजा कृष्टीनां पुरुहूत इन्द्रः।
स्तुतः श्रवस्यन्नवसोप मद्रिग्युक्त्वा हरी वृषणा याह्यर्वाङ्।।

(१.१७७.१)

बहुतों में प्रसिद्ध तथा बहुतों के द्वारा संस्तुत, सबके उस विचक्षण बुद्धि महान ऋषभदेव की इस प्रकार स्तुति की जाती है। वह स्तुत्य होकर हमें वीरता, गोधन एवं विद्या प्रदान करें। हम उस तेजस्वी (ज्ञान) दाता को जाने या प्राप्त करें।

त्वमग्ने इन्द्रो वृषभः सतामसि त्वं विष्णुरुरुगायो नमस्यः।
त्वं ब्रह्मा रयिविद्ब्रह्मणस्पते त्वं विधर्तः सचसे पुरन्ध्या।।

(२.१.३)

हे ज्योति स्वरूप जिनेन्द्र ऋषभ! आप सत्पुरुषों के बीच प्रणाम करने योग्य हैं। आप ही विष्णु हैं और आप ही ब्रह्मा हैं तथा आप ही विभिन्न प्रकार की बुद्धियों से युक्त मेधावी हैं। जिस सप्त किरणों वाले वृषभ ने सात सिन्धुओं को बहाया और निर्मल आत्मा पर चढ़े हुए कर्ममल को नष्ट कर दिया। वे बज्रबाहु इन्द्र अर्थात् जिनेन्द्र आप ही हैं।

अनानुदो वृषभो दोधतो वधो गम्भीर ऋष्वो असमष्टकाव्यः।
रध्रचोदः श्नथनो वीलितस्पृथुरिन्द्रः सुयज्ञः उषसः स्वर्जनत।

(२.२१.४)

दान देने में जिनके आगे कोई नहीं निकल सका ऐसे संसार को अर्थात् जन्म-मरण को क्षीण करने वाले, कर्म शत्रुओं को मारने वाले असाधारण, कुशल, दृढ़ अगों वाले, उत्तम कर्म करने वाले ऋषभ ने सुयज्ञ रूपी अहिंसा धर्म का प्रकाशन किया।

अनानुदो वृषभो जग्मिराहवं निष्टप्ता शत्रुं पृतनासु सासहिः।
असि सत्य ऋणया ब्रह्मणस्पत उग्रस्य चिद्दमिता वीलुहर्षिणः।।
(२.२३.११)

हे ज्ञान के स्वामी वृषभ! तुम्हारे जैसा दूसरा दाता नही है। तुम आत्म शत्रुओं को तपाने वाले, उनका पराभव करने वाले, कर्म रूपी ऋण को दूर करने वाले, उत्तम हर्ष देने वाले कठोर साधक व सत्य के प्रकाशक हो।

उन्मा ममन्द वृषभो मरुत्वान्त्वक्षीयसा वयसा नाधमानम।
धृणीव च्छायामरण अशीयाऽऽविवासेयं रुद्रस्य सुम्नम।

(२.३३.६)

मरुत्वान् अर्थात् मरुदेवी के पुत्र ऋषभ हम (भिक्षुओं) को तेजस्वी अन्न से तृप्त करे। जिस प्रकार धूप से पीडित व्यक्ति छाया का आश्रय लेता है उसी प्रकार मैं भी पाप रहित होकर कठोर साधक वृषभ के सुख को प्राप्त कर व उनकी सेवा करूँ अर्थात् निर्वाण लाभ प्राप्त करूँ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्र दीधितिर्विश्रववारा जिगाति होतारमिलः प्रथमं यजध्यै।
अच्छा नमोभिर्वृषभं वन्दध्यै स देवान्यक्षदिषितो यजीयान्।।
(३.४.३)

समग्र संसार के द्वारा वरेण्य तथा प्रकाश को करने वाली बुद्धि सबसे प्रथम पूजा करने के लिए ज्योति स्वरूप ऋषभ के पास जाती है। उस ऋषभ की वन्दना करने के लिए हम नमस्कार करते हुए उसके पास जायें। हमारे द्वारा प्रेरित होकर वह भी पूजनीय देवों की पूजा करें।

अधालहो अग्ने वृषभो दिंदीहि पुरो विश्वाः सौभगा सजिगीवान्।
यज्ञस्य नेता प्रथमस्य पायोजार्तवेदो बृहतः सुप्रणीते।।
(३.१५.४)

हे अपराजित और तेजस्वी ऋषभ! आप सभी ऐश्वर्यशाली नगरों में धर्म युक्त कर्मों का प्रकाश कीजिए। हे सर्वज्ञ ! आप अहिंसा धर्म के उत्तम रीति से निर्णायक हुए, आप ही त्याग मार्ग के प्रथम नेता हैं। (ज्ञातव्य है कि यहां यज्ञ शब्द को त्याग मार्ग के अर्थ में ग्रहीत किया गया है।)

मरुत्वन्तं वृषभं वावृधानमकवारिं दिव्यं शासमिन्द्रम।
विश्र्वासाहमवसे नूतनायोग्रं सहोदामिह त्वं हुवेम।।
(३.४७.५)

मरुत्वान्, विकासमान, अवर्णनीय दिव्य शासक, सभी (कर्म) शत्रुओं को हराने वाले वीर ऋषभ को हम आत्म-रक्षण के लिए यहाँ आमंत्रित करते हैं।

सद्यो ह जातो वृषभः कनीनः प्रभर्तुभावदन्धसः सुतस्य।
साधोः पिब प्रतिकामं यथा ते रसाशिरः प्रथमं सोम्यस्य।।
(३.४८.१)

उत्पन्न होते ही महाबलवान, सुन्दर व तरुण उन वृषभ ने अन्नदान करने वालों का तत्काल रक्षण किया। हे जिनेन्द्र ऋषभ ! समता रस के अन्दर मिलाये मिश्रण का आप सर्वप्रथम पान करें।

पतिर्भव वृत्रहन्त्सूनृतानां गिरां विश्वायुर्वृषभो वयोधाः।
आ नो गहि सख्येभिः शिवेभिर्महान्महीभिरुतिभिः सरण्यन।।
(३.३१.१८)

महाँ उग्रो वावृधे वीर्याय समाचक्रे वृषभः काव्येन।
इन्द्रो भगो वाजदा अस्य गावः प्र जायन्ते दक्षिणा अस्यपूर्वीः।
(३.३६.५)

प्रजा और दान पूर्वकाल से ही प्रसिद्ध है।

(ज्ञातव्य है कि ऋषभ प्रथम शासक थे और उन्होंने अपनी प्रजा को सम्यक् जीवन शैली सिखायी थी तथा दीक्षा के पूर्व विपुल दान दिया था। इसी दृष्टि से यहाँ कहा गया है कि उनकी प्रजा (गाव) एवं दान पूर्व से ही प्रसिद्ध है।

असूत पूर्वो वृषभो ज्यायानिमा अस्य शुरुधः सन्ति पूर्वीः।
दिवो नपाता विदथस्य धीभिः क्षत्रं राजाना प्रदिवो दधाथे।।
(३.३८.५)

उन श्रेष्ठ ऋषभदेव ने पूर्वो को उत्पन्न किया अथवा वे पूर्व ज्ञान से युक्त हुए। जिस प्रकार वर्षा करने वाला मेघ (वृषभ) पृथ्वी की प्यास बुझाता है उसी प्रकार वे पूर्वो के ज्ञान के द्वारा जनता की प्यास को बुझाते हैं। हे वृषभ ! आप राजा और क्षत्रिय हैं तथा आत्मा का पतन नहीं होने देते हैं।

यदन्यासु वृषभो रोरवीति सो अन्यस्मिन्यूथ नि दधाति रेतः।
स हि क्षपावान्त्स भगः स राजा महद्देवानामसुरत्वमेकम।
(३.५५.१७)

जिस प्रकार वृषभ अन्य यूथों में जाकर डकारता है और अन्य यूथों में जाकर अपने वीर्य को स्थापित करता है। उसी प्रकार ऋषभदेव भी अन्य दार्शनिक समूह में जाकर अपनी वाणी का प्रकाश करते हैं और अपने सिद्धान्त का स्थापन करते हैं। वे ऋषभ कर्मों का क्षपन करने वाले अथवा संयमी अथवा जिनका प्रमाद नष्ट हो ऐसे अप्रमत्त भगवान, राजा, देवों और असुरों में महान् हैं।

चत्वारि श्रृंङ्ग त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश।।
(४.५८.३)

वे ऋषभ देव अनन्त चतुष्टय रूपी चार श्रृङ्गो से तथा सम्यक् ज्ञान, दर्शन एवं चारित्ररूपी तीन पादों से युक्त हैं। ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोग ऐसे दो सिरों, पाँच इन्द्रियों, मन एवं बुद्धि ऐसे सात हाथों से युक्त हैं। वे तीन योगों से बद्ध होकर मृत्यों में निवास करते हैं। वे महादेव ऋषभ अपनी वाणी का प्रकाशन करते हैं।

सन्दर्भ

१. डॉ. सागरमल जैन, जैन, बौद्ध और गीता का साधना मार्ग, राजस्थान प्राकृत भारती, जयपुर १९८२, पृ. भूमिका पृ. ६-१०
२. निग्गंथ सक्क तावस गेरुय आजीव पंचहा समणा-पिण्डनिर्युक्ति, ४४५, निर्युक्तिसंग्रह सं. विजय जिनेन्द्र सूरीश्वर, श्री हर्ष पुष्पामृत जैन ग्रन्थ माला, लाखाबाबल; जामनगर।
३. (अ) निग्गंथ धम्मम्मि इमा समाही, सूयगडो, जैन विश्वभारती, लाडँनू, २।६।४२
(ब) निगण्ठो नाटपुत्तो— दीघनिकाय, महापरिनिव्वाण सुत्त-सुभधपरिव्वाजकवत्थुन, ३।२३।८६
(स) निगंठेसु पि मे कटे इमे वियापटा होहंति— जैन शिलालेखसंग्रह भाग-२, लेख क्रमांक-१
४. इसिभासियाइं सुत्ताइं - प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, १९८८ देखें— भूमिका, सागरमल जैन, पृ.१९-२० (सामान्यतया सम्पूर्ण भूमिका ही द्रष्टव्य है).
५. ज्ञातव्य है कि ऋग्वेद, १०।८५।४ में बार्हत शब्द तो मिलता है किन्तु आर्हत शब्द नहीं मिलता है, यद्यपि अर्हन् एवं 'अर्हन्तो' शब्द मिलते हैं, किन्तु ब्राह्मणों, आरण्यकों आदि में आर्हत और बार्हत दोनों शब्द मिलते हैं।
६. देखें— सुतं मेतं भन्ते-वज्जी यानि तानि वज्जीनं वज्जिचेतियानि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अब्भन्तरानि चेव बाहिरानि तानि सक्कारोन्ति गरुं करोन्तिमानेन्ति पूजेन्ति।

..वज्जीनं अरहन्तेसु धम्मिका रक्खाआवरणगुत्ति, सुसंविहिता किन्ति अनागता च अरहन्तो विजितं आगच्छेय्युं आगता च अरहन्तो विजिते फासु विहरेय्युं। — दीघनिकाय महापरिनिव्वाणसुत्तं, ३।१।४ (नालन्दा देवनागरी पालि सिरीज)

७. देखें— संस्कृत-हिन्दी कोश - बृहत् (वि.) स्त्री. ती, बृहती नपुं. १ वेद २ सामवेद का मंत्र, ३ ब्रह्म (सं. वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास, देहली-७ द्वि. सं. १९८४, पृ. ७२०)

८. देखें— देवो देयान्, यजत्विग्नरर्हन्। ऋग्वेद, १.९४.१, २.३.१, ३, २.३३.१०, ५.७ ५.५२.५, ५.८७.५, ७.१८.२२, १०.९९.७.

वैदिक पदानुक्रम-कोष, प्रथमखण्ड: विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोधसंस्थान, होशियार पुर, १९७६, पृ. ५१८.

९. जुद्धारिहं खलु दुल्लभं। — आचारांग, १.१.५.३

इमेण चेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ- आचारांग, १.१.५.३

१०. (A) Radha Krishnan-Indian philosophy (Ist edition) Vol.1, p. 287.

(B) Indian Antiquary, Vol. IX, Page 163.

११. बर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त भगवान् परमर्षिभि: नाभे: प्रिय चिकीर्षया तदवरोधाय ने मरुदेव्यां धर्मान् दर्शयितु कामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तन्वावतार।— श्रीमद्भागवत, ५.३.२०

१२. देखें— (अ) लिंगपुराण, ४८.१९-२३.

(ब) शिवपुराण, ५२.८५.

(स) आग्नेयपुराण, १०.११-१२.

(द) ब्रह्माण्डपुराण, १४.५३.

(इ) विष्णुपुराण-द्वितीयांश अ. १.२६-२७.

(एफ) कूर्मपुराण, ४१.३७-३८.

(जी) वराहपुराण, अ. ७४.

(एच) स्कन्धपुराण, अध्याय ३७.

(आई) मार्कण्डेयपुराण, अध्याय ५०।३९-४१.

देखें-अहिंसावाणी - तीर्थंकर भ. ऋषभदेव, विशेषांक वर्ष ७ अंक १-२.

मरुपुत्र ऋषभ - श्री राजाराम जैन, पृ.८७-९२.

१३. वृषभ यथा शृंगे शिशान:दविध्वत्- वृषभ = बैल ८.६०.१३, ६.१६.४७, ७.१९.१.

१४. वृषभ: = इन्द्र: वज्रं युजं- वृषभ = बलवान १.३३.१०.

त्वं वृषभ: पुष्टिवर्धन- वृषभ = वलिष्ट १.३१.५.

१५. देखें— ऋषभ एवं बृषभ शब्द- संस्कृत हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली १९८४, पृष्ठ २२४ एवं ९७३

१६. वृषभ: = वर्षा करने वाला ५.५८.३

ज्ञातव्य है कि स्वामी दयानन्द ने इन्द्र के साथ प्रयुक्त वृषभ शब्द को इन्द्र का विशेषण मानकर उसका अर्थ वर्षा करने वाला किया है। देखें- ५.४३.१३, ५.५८.६ज

१७. वृषभ: बृहस्पति-कामनाओं के वर्षक बृहस्पति- १०.९२.९०. वृषभ: प्रजां वर्षतीति वाति बृहतिरेत इति वा तद् वृषकर्मा वर्षणाद् वृषभ:।

-निरुक्तम् (यास्कमहर्षि प्रकाशितं) ९.२२.१.

१८. अनर्थका हि मन्त्रा: - निरुक्त, अध्याय १, खण्ड १५, पाद ५, सूत्र २.

-खेमराज श्रीकृष्णदास, मुम्बय्यां संवत् १९८२.

१९. ऋग्वेद भाषाभाष्य - दयानन्द सरस्वती - दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली-५

देखें- ऋग्वेद, १०.१११.२ का भाष्य।

२०. ऋग्वेद का सुबोध भाष्य, पद्मभूषण डॉ. श्री पाद दामोदर सतवलेकर, स्वाध्याय मण्डल पारडी - जिला बलसाढ, १९८५ देखें-ऋग्वेद, १०.१११.२ का भाष्य।

२१. वही, देखें-ऋग्वेद, ४.५८.३.

२२. ऋग्वेद भाषा भाष्य, दयानन्द सरस्वती, दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली-५

देखें - ऋग्वेद, ४.५८.३

२३. भक्तामरस्तोत्र (मानतुंग), २३, २४, २५

त्वामामनन्ति मुनय: परमं पुमांस —
मादित्यवर्णममलं तमस: परस्तात्
त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युं
नान्य: शिव: शिवपदस्य मुनीन्द्र ! पन्था:॥२३॥
त्वामव्ययं विभुमचिन्त्यमसंख्यमाद्यं
ब्रह्माणमीश्वरमनन्तमनङ्गकेतुम
योगीश्वरं विदितयोगमनेकमेकं
ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्त:॥२४॥
बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधात्
त्वं शङ्करोऽसि भुवनत्रयशङ्करत्वात्
धातासि धीर शिवमार्गविधेर्विधानाद्
व्यक्तं त्वमेव भगवन् पुरुषोत्तमाऽसि॥२५॥

जैनेतर ग्रन्थों में ऋषभ हेतु देखें
जैन रूपमण्डन (U P Shah) P. 50-62